सचित्र

जैन कहानियां

(भाग १६)

लेखक

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

भूमिका

अणुव्रत-परामर्शक मुनिश्री नगराजजी डी० लिट्०

सम्पादक

श्री सोहनलाल बाफणा

आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6

SACHITRA JAIN KAHANIYAN

PART 16

by

Muni Shri Mahendra Kumarji 'Pratham'

Rs. 2.50

First Edition, 1971

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6

शाखाएँ
हौज खास, नई दिल्ली
चौड़ा रास्ता, जयपुर
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
17, अशोक मार्ग, लखनऊ
काश्मीरी गेट, दिल्ली

चित्रकार : श्री व्यास कपूर
मूल्य : दो रुपये पचास
प्रथम संस्करण, 1971

मुद्रक
रूपक प्रिण्टर्स
शाहदरा, दिल्ली-32

भूमिका

मुनि महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम' द्वारा लिखित जैन कहानियां (भाग १ से १०) सन् १९६१ में प्रकाशित हुई थीं। भाग ११ से २५ अब सन् १९७१ में प्रकाशित हो रहे हैं। समग्र जैन-कथा साहित्य को शताधिक भागों में प्रस्तुत कर देने की लेखक की परियोजना है।

प्रथम १० भागों का प्रकाशन समग्र योजना के अंकन का मानदण्ड बन गया। आत्माराम एण्ड सन्स जैसे विश्रुत-प्रकाशन संस्थान से एक साथ १० भागों के प्रकाशित होते ही जैन-जगत् और साहित्य-जगत् में नवीन स्फुरणा-सी आ गई। हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकारों ने माना—वैदिक कहानियां, पौराणिक कहानियां, बौद्ध कहानियां शृंखलाबद्ध होकर साहित्यिक क्षेत्र में कब की आ चुकी हैं। जैन कहानियों का इस रूप में अवतरण यह प्रथम बार हो रहा है; अतः स्तुत्य है और एक दीर्घकालीन रिक्तता का पूरक है।

श्री जैनेन्द्रकुमार जी ने कहा—बहुत पहले जैन समाज के अग्रणी लोगों ने मुझे कहा—जैन कथाओं को भी आप अपनी शैली और अपनी भाषा दें। मैंने कहा—जैन कथा-साहित्य मुझे मिले भी? प्रस्तावक व्यक्तियों ने बड़े-बड़े ग्रन्थ मेरे सामने लाकर रख दिए। वे सब देखकर मैंने कहा—ये विभिन्न भाषा और विभिन्न विषयों में आबद्ध ग्रंथ मेरी अपेक्षा के पूरक कैसे हो सकेंगे! इन ग्रंथों में तो प्रकीर्ण कथा-साहित्य है। मैं कब तक इनको पढ़ सकूंगा और कब तक कथा-संग्रह और कथा-चयन कर सकूंगा तथा कब तक फिर उस कथा-संग्रह

को अपनी भाषा और अपनी शैली दे सकूँगा। मुझे तो संगृहीत व सुनियोजित कथा-साहित्य दें। मेरी इस मांग का समाधान उनके पास नहीं था; अतः वह बात वहीं रह गई। जैन कहानियों के प्रस्तुत १० भाग ज्यों ही मेरे सामने आये, अविलम्ब मैं पढ़ गया। जैन कथा-साहित्य के प्रति मेरे मन में गुरुत्व का मनोभाव भी बना। अब इन्हें मैं या कोई भी साहित्यकार आसानी से अपनी भाषा दे सकता है। जैन कथा-साहित्य के विस्तार का अब यह समुचित धरातल बन गया है।

श्री जैनेन्द्रकुमार जी से जब यह पूछा गया कि सर्व-साधारण के लिए लिखी गई इन कथा-पुस्तकों को आप और अनेकों अन्य मूर्धन्य साहित्यकार रुचि व उत्साह से पढ़ गये, यह क्यो ? उन्होंने बताया, "साहित्यकार को अपने उपन्यास व अपनी कहानियों की कथा-वस्तु भी, तो दिमाग से गढनी पडती है। नवीन कथाओं का अध्ययन साहित्यकार के दिमाग को उर्वर बनाता है। नए बीज देता है। यही कारण है कि साहित्यकार इन सर्वसाधारण के लिए लिखी जैन-कहानियों को अविलम्ब पढ गये। साहित्यकार के अपने इस प्रयोजन के साथ-साथ जैन कथा-साहित्य की व्यापकता तो स्वतः फलित होती ही है।"

जैन कहानिया दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि सभी जैन-समाजों मे मान्य हुई। शास्त्र सब जैन-समाजो के एक भले ही न हो, पुरातन कथा-साहित्य सबका समान है। सरल व सुबोध भाषा में जैन-कथा-साहित्य का उपलब्ध हो जाना सभी के लिए रुचिवर्धक प्रमाणित हुआ। बच्चों, वृद्धों, युवको व महिलाओं

में जैन कहानियां पढ़ने की अद्भुत उत्सुकता देखी गई। जो महिलाएँ एक-एक शब्द जोड़-जोड़ कर पढ़ती थीं, वे दशों भाग पढ़ने तक हिन्दी धारा-प्रवाह पढ़ने लगीं। धार्मिक परीक्षाओं में इनका उपयोग हुआ। विद्यालयों के पुस्तकालयों में ये व्यापक स्तर पर पहुंचीं। जैन-जैनेतर विद्यार्थी स्पर्धापूर्वक इन्हें पढ़ते। अग्रिम भागों की स्थान-स्थान से माँग आने लगी।

सर्वसाधारण की प्रशस्ति के साथ विचार-जगत् से अनेक सुझाव भी आने लगे। कुछ लोगों ने कहा—पुस्तक-माला का नामकरण जैन कहानियाँ न होकर धार्मिक कहानियां या बोध-कहानियाँ ऐसा कोई नाम होता, तो इसकी व्यापकता सार्वदेशिक हो जाती। कुछेक विचारकों ने सुझाया—कहानियाँ वर्गीकृत होनी चाहिए थीं। प्रत्येक कहानी का ग्रंथ-संदर्भ उसके साथ होना चाहिए था।

नामकरण के परिवर्तन का सुझाव अधिक उपयोगी नहीं लगा। सार्वजनिक व सार्वदेशिक नाम लेने से ही कोई पुस्तक या कोई प्रवृत्ति सर्वमान्य व व्यापक बन जाती है, यह निरा भ्रम है। दूसरी बात, परम्परागत आधारों पर कथा-साहित्य की अनेक धाराएँ साहित्य-जगत् में पहले से ही प्रसारित हो चली हैं। इस स्थिति में एक परम्परा-विशेष के कथा-साहित्य को सार्वजनिकता में विलीन कर देना उस परम्परा के साथ ही न्यायोचित नहीं होता। ऐसा शक्य भी नहीं था। नामकरण के बदल देने से कथावस्तु तो बदलती नहीं। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि किसी भी कथावस्तु में अपनी संस्कृति, सभ्यता और परम्परा के मूल्य प्रतिबिम्बित होते हैं। यह आधार मिटा दिया जाए, तो कथावस्तु ही निराधार व निरर्थक बन जाती है।

अस्तु, इन्ही तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक-माला का नाम 'जैन कहानियां' ही अधिक संगत माना गया है।

वर्गीकरण और ग्रथ-संदर्भ का सुझाव शोध विद्वानों की ओर से था। सुझाव उपयोगी तो था ही, पर, उसकी भी अपनी सीमा थी। प्रस्तुत पुस्तक-माला मुख्यतः लोक-साहित्य के रूप मे प्रकाशित हो रही है। अधिक-से-अधिक लोग इसे पढे व सात्त्विक प्रेरणा ग्रहण करें, यह इसका अभिप्रेत है। सर्व-साधारण को कथा की आत्मा से व उसकी रोचकता से अधिक प्रेम होता है, न कि उसके मूल ग्रथ और ग्रथकार से। किसी कथा को पढ़ते ही शोध विद्वान् की दृष्टि इस पर पहुँचेगी कि इस कथा का मूल आधार क्या है, वह कितना पुराना है, इस कथावस्तु पर अन्य किसी कथावस्तु का प्रभाव है या नही, अन्य परम्पराओं में यह कथा मिलती है या नही, आदि-आदि। शोध-विद्वान् की ये मौलिक जिज्ञासाएं सर्व साधारण के लिए भूल-भुलैया है। अस्तु, पुस्तक-माला के प्रयोजन को समझते हुए प्रत्येक कथा के साथ गवेषणात्मक टिप्पण जोड़ना आवश्यक नही माना गया। फिर भी लेखक ने इन अग्रिम भागों की कथाओं में मौलिक आधार अपने प्राक्कथन मे बता दिए है। इससे शोध विद्वानो को प्राथमिक दिग्दर्शन तो मिल ही जायेगा। लेखक की परिकल्पना है, इस पुस्तक-माला की सम्पूर्ति के पश्चात् समग्र कथाओं के वर्गीकृत रूप का गवेपणात्मक टिप्पणियो के साथ स्वतन्त्रसंस्करण पृथक् ग्रथ के रूप मे तैयार किया जाए।

कथावस्तु की सरसता बढाने के लिए प्रकाशक ने प्रत्येक कथा मे घटना-सम्बद्ध एक-एक चित्र दिया है। चित्रकार ने जैन

साधु की मुद्रा लेखक की वेशभूषा में ही चित्रित की। यह स्वाभाविक भी था। पर, स्थिति यह है कि जैन-साधु की कोई भी एक वेष-भूषा जैन-समाज में सर्वसम्मत नहीं है। दिगम्बर मुनि अचेलक हैं। श्वेताम्बर मुनि वस्त्र-धारक हैं, पर, उनमें भी दो प्रकार हैं, मुखपतिवद्ध और अमुखपतिवद्ध। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मुनि अमुखपतिबद्ध हैं तथा स्थानकवासी और तेरापन्थी; दोनों मुखपतिबद्ध हैं। स्थानकवासियों और तेरापन्थियों में भी मुखपति के छोटे-बड़ेपन व आकार-प्रकार का अन्तर है। सहस्राब्दियों पूर्व के जैन-साधुओं का श्वेताम्बर रूप था या दिगम्बर रूप, यह भी अपनी-अपनी मान्यता का विषय है। इस स्थिति में गौतम, स्थूलिभद्र आदि प्राचीन व सर्वमान्य भिक्षुओं की वेष-भूषा क्या चित्रित की जाए, यह एक जटिल प्रश्न बन जाता है। हाँ, महावीर व अन्य तीर्थकरों के स्वरूप में सभी जैन-समाज एकमत हैं। उनकी अचेलक व्यवस्था निर्विवाद है। दसों भाग ज्यों ही प्रकाशित होकर आये और चित्रों में जहां-जहाँ जैन मुनियों की उपस्थिति आई, वहाँ-वहाँ उनका स्वरूप मुखपतिबद्ध आया। मुखपति भी तेरापन्थी आकार-प्रकार की। लेखक के लिए यह सब संकोच का विषय बना। उनके मन में तो ऐसा कोई आग्रह था नहीं। स्थितिवश यह सब हुआ। प्रश्न यह है कि जैन-साधु का कोई भिन्न स्वरूप भी चित्रकार देता, तो क्या देता? कोई सर्व-सम्मत रूप है भी तो नहीं।

लेखक के प्रति अकारण ही कोई संकीर्णता की धारणा बने, यह भी वांछनीय नहीं था; अतः आगामी दस भागों के लिए यही निर्णय लिया गया कि जैन साधु की अनिवार्यता

प्राक्कथन

मुनिवर मुनिपति अध्यात्म-प्रवण साधक थे। अहर्निश कायोत्सर्ग तथा ध्यान-मुद्रा में ही वे लीन रहते थे। एक बार उन्होंने कुंचिक श्रेष्ठी के यहाँ चातुर्मासिक प्रवास किया। कुंचिक श्रेष्ठी तथा उसके पुत्र के बीच सम्पत्ति को लेकर संघर्ष चलता था। श्रेष्ठी ने अपनी सम्पत्ति, जहां मुनिवर का प्रवास था, छुपा दी। पुत्र को ज्ञात हो गया। उसने गुप्त रूप से सम्पत्ति निकाल ली। चातुर्मास की समाप्ति पर श्रेष्ठी ने सम्पत्ति का प्रतिलेखन किया। उसके हाथ कुछ भी नहीं लगा। वह संदिग्ध हुआ, निर्लोभी मुनिवर लोभ में फंस गये हैं। उनके अतिरिक्त मेरी सम्पत्ति पर कोई नजर नहीं डाल सकता। उसने मुनिवर मुनिपति को स्पष्ट कह दिया—"आपने अपने उपकारी को धोखा दिया है।" मुनिवर ने इसका प्रतिवाद किया। श्रेष्ठी ने अपने कथन के समर्थन में अनेक उदाहरण दिये और मुनिवर मुनिपति ने अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए उसके प्रतिवाद में अनेक उदाहरणों का प्रयोग किया। कथन-प्रतिकथन की शृंखला बहुत लम्बी व सरस चली है। कथाओं का संयोजन तथा कथोपकथन की कलात्मकता अद्‌भुत है। इसीलिए यह आख्यान अनेक कवियों द्वारा संस्कृत, गुज-

राती, राजस्थानी आदि भाषाओं मे विविध रूप मे संदृब्ध हुआ है।

राजा श्रेणिक के अनेक प्रसग एक ही शृ खला में आबद्ध होकर जैन इतिहास की कई महत्वपूर्ण घटनाओं पर सुन्दर प्रकाश डालते है। अनेक कथाएँ स्वतन्त्र होती हुई भी सयोजक की कुशलता से चामत्कारिक रूप से एक हो गई हैं। प्रवाह अस्खलित होकर चलता है तथा उसमें अनेक मनोरजक घुमाव आते है। साराश है, अध्यात्मक का प्रतिष्ठापन।

कुछ कथाएँ प्रस्तुत संग्रह (भाग १५-१६) से पृथक् कर दी गई हैं। उनमें मुनि मेतार्य तथा राजा जितशत्रु व रानी सुकुमाला मुख्य है। वे पूर्व भागो में आ चुकी हैं। 'अतूकारी भट्टा' को पृथक् कर दिये जाने पर भी सोलहवे भाग में सयुक्त कर दिया गया है।

जैन कथाओं के आलेखन का क्रम विगत एक दशाब्दी से चल रहा है। अनचाहे ही यह लेखन का मुख्य विषय बन गया है और क्रमश. अनेकानेक कथाएँ सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्रान्तीय भाषाओ से रूपान्तरित होकर एक शृखला मे मबद्ध होने लगी। कथाओ का पठन तथा श्रवण सर्वाधिक प्रिय था ही, पर, लेखन भी इनके साथ अनुस्यूत हो जायेगा, यह कल्पना नहीं थी। किन्तु, अनायास हो गया और उससे मानसिक प्रसत्ति का एक सुन्दर स्रोत फूट पड़ा। इस बीच प्राचीन आचार्यों के अनेकानेक कथा-सग्रह के ग्रथ देखे और उनसे कथाओ का चयन आरम्भ किया। सक्षिप्त व विस्तृत दोनों शैलियों से लिखे गये ग्रथों के स्वाध्याय से कथा-वस्तु की जान-

कारी में पर्याप्त योग मिला, पर, उसकी विविधता ने उतनी ही जटिलता प्रस्तुत कर दी। एक ही कथा के अनेक रूप निर्णायकता में कठिनता उपस्थित कर रहे थे। अपनी मनीषा से ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर आलेखन का प्रयत्न किया गया है। हो सकता है, बहुत सारे स्थलों पर मत-भिन्नता तथा परम्परा की भिन्नता भी हो, पर, सर्वसम्मतता के अभाव में एक ही प्रकार की कथा का ग्रहण आवश्यक भी था। जहाँ तक स्वयं की मान्यताओं का प्रश्न था, बहुत सारे स्थलों पर उनका आग्रह न रखकर कथा-वस्तु को ज्यों-का-त्यों रखा गया है, ताकि तात्कालीन परिस्थितियों के बारे में पाठक अपना निर्णय कर सके। मैंने अपना निर्णय पाठकों पर थोपने का यत्न नहीं किया है। बहुत सारे स्थलों पर कथा-वस्तु में तनिक-सा परिवर्तन कर देने पर विशेष रोचकता भी हो सकती थी, किन्तु, प्राचीन कथाओं की मौलिकता को बनाये रखने के लिए ऐसा भी नहीं किया गया है।

जैन कथा-साहित्य जितना विस्तीर्ण है, उतना ही सरस भी है। आज तक वह आधुनिक भाषा में नहीं आया था; अतः वह अपरिचित भी रहा। मुझे यह अनुमान नहीं था कि पच्चीस लिखे जाने के बाद भी उसकी थाह अज्ञात ही रहेगी। ऐसा लगता है, जैन कथा-साहित्य के छोर को पाने में अनेक वर्षों की अनवरत तपस्या आवश्यक है। आगम, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका आदि में कथाओं का विपुल भण्डार है। रास साहित्य ने उसमें विशेषतः और ही अभिवृद्धि की है। ज्यों-ज्यों गहराई में पहुँचा जायेगा, त्यों-त्यों विशिष्ट प्राप्ति भी होती जायेगी तथा

और गहराई मे घुसने के लिए उत्साह भी वृद्धिगत होता जायेगा।

मुझे प्रसन्नता है कि जैन कहानियों का समाज के सभी वर्गों मे विशेष समादर हुआ। कहना चाहिए, उसी कारण इस दिशा में निरन्तर लिखते रहने का उत्साह जगा। आरम्भ में योजना छोटी थी, पर, अब वह स्वतः काफी विस्तीर्ण हो चुकी है। पहली बार मे दस भाग पाठको के समक्ष प्रस्तुत हुए थे और दूसरी बार अगले पन्द्रह भाग प्रस्तुत हो रहे है। इसी क्रम से बढते हुए शीघ्र ही सौ भागों की अपनी मजिल तक पहुँचना है। भगवान् श्री महावीर के २५वे शताब्दी समारोह तक यदि यह कार्य सम्पन्न हो सका, तो विशेष आह्लाद का निमित्त होगा।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के वरद आशीर्वाद ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवृत्त किया और अणुव्रत परामर्शक मुनि-श्री नगराजजी डी० लिट्० के मार्ग-दर्शन ने उसमें गतिशील किया। जीवन की ये दोनों ही अमूल्य थाती है। मुनि विनय-कुमारजी 'आलोक' तथा मुनि अभयकुमार का सतत सहाचर्य-सहयोग लेखन में निमित्त रहा है।

१५ नवम्बर, ७०

—मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

अनुक्रम

मुनिवर मुनिपति

मुनिवर मुनिपति ने अपनी बात में बल भरते हुए कहा—"कुंचिक ! श्रमण-निर्ग्रन्थ किसी के धन की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते। तू मेरे पर यह आक्षेप कैसे मढ़ रहा है ?"

कुंचिक सेठ ने मुनिवर मुनिपति के पक्ष का समर्थन करते हुए कहा—"यह ठीक है, श्रमण सर्वथा निर्लोभ होते हैं; पर, आप वैसे नहीं हैं। आपका मन मेरे धन पर अवश्य ललचाया है। आपकी प्रवृत्ति उस सिंह से कम नहीं है।"

मुनिवर मुनिपति ने पूछा—"वह सिंह कौन था? उसकी चर्या क्या थी ?"

कुंचिक सेठ ने कहा—"वाराणसी में जितशत्रु राजा का राज्य था। उसके पास देवदत्त चिकित्सक रहता था। उसकी पत्नी का नाम मनोरमा था। क्रमश: जीवानन्द और केशव दो पुत्र हुए। बचपन में ही उन पर से उनके पिता का साया उठ गया था।

राजा ने देवदत्त के स्थान पर अन्य वैद्य को नियुक्ति कर दी थी। उसके बाद उसका सम्मान और समृद्धि बढने लगी तथा देवदत्त के परिवार में गरीबी छा गई। एक दिन नया वैद्य आभूषणों से सज्जित घोड़े पर सवार होकर कहीं जा रहा था। उसके आगे-पीछे राजपुरुषों का लवाजमा चल रहा था। मनोरमा ने उसको देखा। उसे अपनी समृद्धि के दिन याद आ गये। वह रोने लगी। पुत्रों ने रोने का कारण पूछा, तो मां ने विस्तार से अपने विगत पर प्रकाश डाला। साथ में यह भी कहा—"तुम्हे वैद्यक शास्त्र का ज्ञान नहीं है। यदि ज्ञान होता, तो आज इस वैद्य के स्थान पर तुम्हारी नियुक्ति होती और हम सभी आनन्द में होते।"

जीवानन्द और केशव; दोनो ने ही मां से कहा—"आप हमें ऐसा व्यक्ति बताये, जो हमें अध्ययन करवा सके। हम उसके पास विनय और परिश्रम के साथ तन्मयता से अध्ययन करेंगे।"

मॉं ने कहा—"तुम्हे यहाँ तो कोई पढायेगा नहीं; पर, चम्पा में तुम्हारे पिता का परम मित्र रहता है। उसका नाम है—ज्ञानगर्भ। तुम उसके पास जाओ।"

दोनों ही पुत्रों के मन में तड़प थी; अतः उन्होने शीघ्र ही वैद्यक शास्त्र का गहरा अध्ययन कर लिया।

चम्पा से अपने नगर की ओर लौट रहे थे। मार्ग में एक अन्धा सिंह उन्हें दिखलाई दिया। अग्रज ने अनुज से कहा—"दवा डालकर इस सिंह की आँखें ठीक करें। हमें इस पर उपकार करना चाहिए।"

अनुज ने अग्रज से कहा—"यह चिन्तन उपयुक्त नहीं है। मनुष्यों पर किया गया उपकार उपयोगी होता है। हिंसक प्राणी इसे कुछ भी नहीं समझ पाते। वे तो बदले में हमें ही काटते हैं।"

अग्रज ने अनुज की बात नहीं मानी। अनुज अपने प्राण बचाने के लिए पास ही में एक वृक्ष पर चढ़ गया। अग्रज ने सिंह की आँखों में चूर्ण डाला। तत्काल सिंह के नेत्रों से ज्योति चमकने लगी। सिंह कई दिनों से भूखा था। उसने उपकर्ता वैद्य पर अपना पंजा मारा और उसे मार डाला। केशव सानन्द घर लौट आया।

कुंचिक सेठ ने अपने कथन का समापन करते हुए कहा—"सिंह ने जिस प्रकार अपने उपकारी को मार डाला, उसी प्रकार मुनिवर! आपने भी मेरे साथ किया है।"

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"श्रेष्ठिन्! मेरे इतना कहने पर भी लगता है, तुम विश्वस्त नहीं हो रहे हो।

यदि तुम्हें प्रतीति न होती हो, तो मैं भद्र वृषभ की तरह शपथ पूर्वक भी तुम्हें विश्वास दिला सकता हूँ।"

कुंचिक सेठ ने पूछा—"भगवन् ! यह भद्र वृषभ कौन था और उसने किस प्रकार शपश ग्रहण की थी ?"

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"चम्पा नगरी में अजितसेन राजा था। वहां एक मठाधीश रहता था। उसके पास दो गोकुल थे। एक बार एक गौ ने एक बछड़े को जन्म दिया। वह ज्यों ही युवा हुआ, मदोन्मत्त हो गया। स्वेच्छया नगर में घूमने लगा। जनता में उसकी प्रियता थी। जनता उसे सूर्यसंढ़ के नाम से पुकारती थी।

चम्पा में जिनदास नामक एक श्रावक भी रहता था। वह दृढ़ सम्यक्त्वी, धर्म-परायण तथा राज-मान्य था। तीनों समय शुद्ध धार्मिक क्रियायें करता था। पर्व-तिथियों में उसने कभी भी पौषध नही छोड़ा। रात्रि में बहुधा शून्य घरों में जाकर एकान्त में कायोत्सर्ग करता था।

धनश्री जिनदास की पत्नी थी। वह जिनदास से विपरीत प्रकृति की थी। वह पापात्मा तथा कुलटा थी।

जिनदास रात्रि में बहुधा कायोत्सर्ग करता और वह पर-पुरुषों के साथ शून्य घरों में जाकर काम-क्रीड़ा करती।

जिनदास एक रात्रि में एक शून्य गृह में कायोत्सर्ग कर रहा था। अंधेरी रात थी। धनश्री अपने प्रेमी के साथ उसी शून्य गृह में आई। पल्यंक बिछाकर दोनों लेट गये। पल्यंक के चारों पायों में नीचे लोहे की कीलें लगी हुई थीं। एक कील ने जिनदास के पैर को वेध डाला। जिनदास के अपार वेदना हुई। किन्तु, उसने अपूर्व सहनशीलता का परिचय दिया। उसने अपनी पत्नी को भी पहचान लिया, पर, क्रोधित नहीं हुआ। अपनी ही साधना में लीन रहा। चार प्रहर तक पल्यंक की कील जिनदास के पैरों में लगी रही। भयंकर वेदना में उसने शरीर को छोड़ दिया।

रात्रि समाप्त होने पर दोनों जगे। उन्होंने ज्यों ही पल्यंक को उठाया, जिनदास का शरीर भूमि पर गिरा। पैर से निकले हुए रक्त से वह शरीर सन गया। उस दृश्य को देखकर धनश्री भीत हुई। उसी समय सूर्यसंड वृषभ भी उस ओर से आ निकला। अपने पाप को छुपाने के लिए धनश्री ने इसे उपयुक्त पात्र समझा। उसने वृषभ के शृंगों पर खून लगा कर

यदि तुम्हें प्रतीति न होती हो, तो मैं भद्र वृषभ की तरह शपथ पूर्वक भी तुम्हें विश्वास दिला सकता हूँ।"

कुचिक सेठ ने पूछा—"भगवन् ! यह भद्र वृषभ कौन था और उसने किस प्रकार शपथ ग्रहण की थी ?"

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"चम्पा नगरी में अजितसेन राजा था। वहां एक मठाधीश रहता था। उसके पास दो गोकुल थे। एक बार एक गौ ने एक बछड़े को जन्म दिया। वह ज्यों ही युवा हुआ, मदोन्मत्त हो गया। स्वेच्छया नगर में घूमने लगा। जनता में उसकी प्रियता थी। जनता उसे सूर्यसंढ़ के नाम से पुकारती थी।

चम्पा में जिनदास नामक एक श्रावक भी रहता था। वह दृढ़ सम्यक्त्वी, धर्म-परायण तथा राज-मान्य था। तीनों समय शुद्ध धार्मिक क्रियायें करता था। पर्व-तिथियों में उसने कभी भी पौषध नहीं छोड़ा। रात्रि में बहुधा शून्य घरों में जाकर एकान्त में कायोत्सर्ग करता था।

धनश्री जिनदास की पत्नी थी। वह जिनदास से विपरीत प्रकृति की थी। वह पापात्मा तथा कुलटा थी।

जिनदास रात्रि में बहुधा कायोत्सर्ग करता और वह पर-पुरुषों के साथ शून्य घरों में जाकर काम-क्रीड़ा करती।

जिनदास एक रात्रि में एक शून्य गृह में कायोत्सर्ग कर रहा था। अंधेरी रात थी। धनश्री अपने प्रेमी के साथ उसी शून्य गृह में आई। पल्यंक बिछाकर दोनों लेट गये। पल्यंक के चारों पायों में नीचे लोहे की कीलें लगी हुई थीं। एक कील ने जिनदास के पैर को वेध डाला। जिनदास के अपार वेदना हुई। किन्तु, उसने अपूर्व सहनशीलता का परिचय दिया। उसने अपनी पत्नी को भी पहचान लिया, पर, क्रोधित नहीं हुआ। अपनी ही साधना में लीन रहा। चार प्रहर तक पल्यंक की कील जिनदास के पैरों में लगी रही। भयंकर वेदना में उसने शरीर को छोड़ दिया।

रात्रि समाप्त होने पर दोनों जगे। उन्होंने ज्यों ही पल्यंक को उठाया, जिनदास का शरीर भूमि पर गिरा। पैर से निकले हुए रक्त से वह शरीर सन गया। उस दृश्य को देखकर धनश्री भीत हुई। उसी समय सूर्यसंड वृषभ भी उस ओर से आ निकला। अपने पाप को छुपाने के लिए धनश्री ने इसे उपयुक्त पात्र समझा। उसने वृषभ के शृंगों पर खून लगा कर

चिल्लाना आरम्भ किया—"ध्यानस्थ मेरे स्वामी को इस वृषभ ने मार डाला है। आओ, आओ, मेरी रक्षा करो।"

धनश्री के चिल्लाने पर कुछ ही क्षणों में वहां सैकड़ों व्यक्ति एकत्रित हो गये। वृषभ के शृंगों को खून से लथपथ देखकर जनता ने उसे लाठियों से बहुत पीटा। वृषभ ने सिर हिलाकर अपने को निरपराध प्रमाणित करने का बहुत प्रयत्न किया, पर, कोई भी व्यक्ति उसके अभिप्राय को नहीं समझ पाया। वृषभ उस झूठे कलंक से व्यग्र हो उठा। वह वहां से सीधा नगर-रक्षक के पास पहुंचा। बोलने में असमर्थ था; अतः वहां पर भी उसने बार-बार सिर ही हिलाया। एकत्रित जन-समूह ने कहा—"लगता है, यह अपने को निष्कलंक प्रमाणित करने के लिए यहां शपथ ग्रहण के लिए आया है।"

वृषभ ने उसी समय मुह भूमि पर लगाकर उपरोक्त कथन की पुष्टि की। उपस्थित नागरिकों ने वृषभ के अभिप्राय को भांप लिया। तत्काल लोहे का गोला गर्म किया और उसके सिर पर रखने लगे। वृषभ ने अपनी जीभ बाहर निकाली। गर्म लोहे का गोला जीभ पर रख दिया गया। उसकी जीभ जली

नहीं; अपितु गर्म गोला ठण्डा पड़ गया। विस्मित जनता ने उद्घोषणा की—वृषभ सूर्यसंढ़ निर्दोष व निष्कलंक है। उसके गले में फूल-माला डालकर उसे सम्मानित किया गया।

पापात्मा बचने का कितना ही उपक्रम करे, उसकी कलई खुले बिना नहीं रहती। वृषभ के निरपराध प्रमाणित होने पर सारा दोष धनश्री पर जा पड़ा। जनता ने उसकी विडम्बना की और राजा ने उसे अपने देश से निकाल दिया।

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"श्रेष्ठिन्! यदि तुझे मेरे कहने से प्रतीति न होती हो, तो मैं भी वृषभ की तरह अपने को निर्दोष प्रमाणित करने का प्रयत्न करूँ। तू जिस तरह से मेरे सिर पर आक्षेप मढ़ रहा है, वह उपयुक्त नहीं है। मैं इसका प्रतिकार करना चाहता हूँ।"

कुंचिक सेठ के दिल में फिर भी यह नहीं जच पाया कि मुनिवर निर्दोष हैं। वह तो अपने ही कथन को दुहराता जा रहा था। उसने कहा—"आपने जो व्यवहार किया है, वह सर्वथा निन्दनीय है। जिस डाली पर बैठे, उसी को ही काटने जैसा आपका उपक्रम है। आप गृहगोधा से कम कृतघ्न नहीं हैं।"

मुनिवर मुनिपति ने पूछा—"गृहगोधा का क्या प्रसंग है ?"

कुंचिक सेठ ने कहा—"एक ग्राम में एक गृहगोधा रहती थी। एक बार रात में जब उसने नीद ली, आखों के विकार से गीड़ बहुत आए। आंखें चिपक गई। प्रातःकाल उसने बहुत प्रयत्न किये, पर, नेत्र खुल नही पाये। बहुत सारी मक्खियां उस पर भिनभिनाने लगी। वे उसके नेत्र-मल को खा गई। परिणामस्वरूप उसकी आंखें खुल गई। गृहगोधा ने एक झपट मारी और मक्खियों को निगल गई। मुनिवर ! आपने भी मेरे साथ यही किया है। मैंने ही तो आपको प्रवास के लिए स्थान दिया और मेरा ही आपने धन चुराया है? क्या साधुता के लिए यह शोभा-जनक है ?"

सेठ ने अपने मन्तव्य को दूसरा मोड़ देते हुए कहा—"जो व्यक्ति चौर्य-कर्म में निपुण होता है, उसका हृदय बहुत कठोर होता है। कठोर मानस से की गई शपथ भी मननीय नही होती; अतः वृषभ सूर्यसढ के उदाहरण का मेरे पर कोई प्रभाव नही हुआ।"

मुनिवर मुनिपति स्वयं मे निर्दोष थे, पर, कुंचिक सेठ के आग्रह ने उन्हें व्यथित कर दिया। उन्होने कहा—"श्रेष्ठिन्! क्या तेरे पास कोई प्रमाण है कि मैंने

ही तेरा धन चुराया है ? केवल आशंका से ही साधु के सिर पर झूठमूठ दोष मढ़ देना उपयुक्त नहीं है। तू तो बुद्धिमान् है। सत्य और असत्य का निर्णय अपनी कसौटी पर कसने के बाद ही करना चाहिए; जैसे कि सुबुद्धि मंत्री ने किया था।"

कुंचिक सेठ ने पूछा— "भगवन् ! सुबुद्धि मंत्री कौन था और उसने किस प्रकार अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया था।"

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"चम्पक माला नगरी में वसुपाल राजा था। उसके प्रतिभा-सम्पन्न सुबुद्धि मंत्री था। उसी नगर में धनाढ्य और लोकप्रिय अभिनव सेठ रहता था। उसकी पुत्री का नाम सुन्दरी था। अभिनव सेठ के पड़ौस में धनपाल वणिक् भी रहता था। वह निर्धन था। कंकु उसकी कन्या थी। सुन्दरी और कंकु की पारस्परिक प्रीति प्रशंसनीय थी। एक दिन वे दोनों सखियां जल-क्रीड़ा के लिए बावड़ी पर गईं। सुन्दरी ने अपने आभूषण उतार कर किनारे पर रख दिये। दोनों सखियां जल में उतर गईं। कंकु के मन में पाप समा गया। वह स्नान करके पहले ही बाहर निकल आई और सुन्दरी के गहने पहिन कर अपने घर की ओर चल पड़ी। सुन्दरी जब बाहर आई,

मुनिवर मुनिपति ने पूछा—"गृहगोधा का क्या प्रसंग है ?"

कुचिक सेठ ने कहा—"एक ग्राम में एक गृहगोधा रहती थी। एक बार रात में जब उसने नींद ली, आंखों के विकार से गीड बहुत आए। आंखें चिपक गई। प्रातःकाल उसने बहुत प्रयत्न किये, पर, नेत्र खुल नहीं पाये। बहुत सारी मक्खियां उस पर भिनभिनाने लगी। वे उसके नेत्र-मल को खा गईं। परिणामस्वरूप उसकी आंखें खुल गई। गृहगोधा ने एक झपट मारी और मक्खियों को निगल गई। मुनिवर ! आपने भी मेरे साथ यही किया है। मैंने ही तो आपको प्रवास के लिए स्थान दिया और मेरा ही आपने धन चुराया है ? क्या साधुता के लिए यह शोभा-जनक है ?"

सेठ ने अपने मन्तव्य को दूसरा मोड देते हुए कहा—"जो व्यक्ति चौर्य-कर्म में निपुण होता है, उसका हृदय बहुत कठोर होता है। कठोर मानस से की गई शपथ भी मननीय नहीं होती; अतः वृषभ सूर्यसढ़ के उदाहरण का मेरे पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।"

मुनिवर मुनिपति स्वयं में निर्दोष थे, पर, कुंचिक सेठ के आग्रह ने उन्हे व्यथित कर दिया। उन्होने कहा—"श्रेष्ठिन् ! क्या तेरे पास कोई प्रमाण है कि मैंने

ही तेरा धन चुराया है ? केवल आशंका से ही साधु के सिर पर झूठमूठ दोष मढ़ देना उपयुक्त नहीं है। तू तो बुद्धिमान् है। सत्य और असत्य का निर्णय अपनी कसौटी पर कसने के बाद ही करना चाहिए; जैसे कि सुबुद्धि मंत्री ने किया था।"

कुंचिक सेठ ने पूछा— "भगवन् ! सुबुद्धि मंत्री कौन था और उसने किस प्रकार अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया था।"

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"चम्पक माला नगरी में वसुपाल राजा था। उसके प्रतिभा-सम्पन्न सुबुद्धि मंत्री था। उसी नगर में धनाढ्य और लोकप्रिय अभिनव सेठ रहता था। उसकी पुत्री का नाम सुन्दरी था। अभिनव सेठ के पड़ौस में धनपाल वणिक् भी रहता था। वह निर्धन था। कंकु उसकी कन्या थी। सुन्दरी और कंकु की पारस्परिक प्रीति प्रशंसनीय थी। एक दिन वे दोनों सखियां जल-क्रीड़ा के लिए बावड़ी पर गईं। सुन्दरी ने अपने आभूषण उतार कर किनारे पर रख दिये। दोनों सखियां जल में उतर गईं। कंकु के मन में पाप समा गया। वह स्नान करके पहले ही बाहर निकल आई और सुन्दरी के गहने पहिन कर अपने घर की ओर चल पड़ी। सुन्दरी जब बाहर आई,

मन्त्री ने उसी समय निर्णय दिया—"गहने सुन्दरी के हैं; ककु के नहीं; अभिनव सेठ को ये लौटा दिए जायें और धनपाल को गिरफ्तार कर चोरी के अभियोग में दण्डित किया जाये।"

कुंचिक सेठ ने कहा—"मगध देश के किसी ग्राम में एक निर्धन ब्राह्मण रहता था। वहां एक बार भयंकर अकाल पड़ा। उदर-भरण भी दुष्कर हो गया। उस ब्राह्मण ने सोचा, कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए, जिससे सुगमता से धन-संचय हो सके और भूख की समस्या का समाधान हो सके। उसने लकड़ी की एक दुर्गा की प्रतिमा बनाई। सिन्दूर आदि से सज्जित कर, वह गांव-गांव में घूमने लगा। दुर्गा के प्रभाव का वह आकर्षक शब्दों में वर्णन करता था। जनता उसे सुनकर बहुत प्रभावित होती थी।

कई बार सहज निष्पन्न होने वाला कार्य इष्ट के प्रति अतिशय श्रद्धा जागृत कर देता है। किसी निःसंतान सेठ के संयोगवश दुर्गा की शरण ग्रहण करने से पुत्र हो गया। गांव में उसकी मान्यता बढ़ गई। धन-धान्य आदि से पूजा होने लगी। निर्धन ब्राह्मण का भाग्य चमक गया। उसके घर सम्पत्ति का ढेर हो गया। उसने सोने की एक प्रतिमा बनवा ली। वह सोचने लगा, धन की प्राप्ति तो मेरे सौभाग्य से हुई है। इस काष्ठ-प्रतिमा का इसमें क्या अनुदान है? उसने उसे घूरे पर डाल दिया।

कुंचिक सेठ ने कहा—"मुनिवर जब तक चतुर्मास

था, आपका शरीर रुग्ण था, आपने मेरे साथ अच्छा व्यवहार किया, किन्तु, ज्यों ही काम सम्पन्न हो गया, आपने मुझे धोखा दे दिया। और धोखा भी ऐसा दिया है कि मेरे तो प्राण निकले जा रहे है।"

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"श्रेष्ठिन्! अभी तक भी तू भूल कर रहा है। मुझे आश्चर्य है, तू वास्तविकता को पहचान नही पा रहा है। मैं स्पष्ट कहता हूँ, मैंने तेरा धन नहीं चुराया है। साधु कभी भी ऐसा काम नही करते हैं। वे तो जिनदत्त के तुल्य होते है।"

कुंचिक सेठ ने पूछा—"मुनिवर! जिनदत्त कौन था और उसके तुल्य साधु कैसे होते हैं?"

मुनिवर मुनिपति ने कहा—वसन्तपुर में जितशत्रु राजा था। उसी नगर में जीव-अजीव आदि नव तत्वों का ज्ञाता सेठ जिनदास का पुत्र जिनदत्त श्रावक था। जिनदत्त का मानस वैराग्य से भावित था; अतः युवा होने पर भी वह विवाह नही कर रहा था। पारिवारिको को विशेष चिन्ता हुई। वे भी कोई ऐसा अवसर खोजने लगे, जिससे कि जिनदत्त का मन गृहस्थवास में लग सके।

सार्थवाह प्रियमित्र भी इसी शहर मे रहता था।

जिनमती उसकी कन्या थी। रूप, लावण्य व सौभाग्य का उसमें अद्भुत समन्वय था।

एक बार जिनदत्त मित्रों के साथ नगर-उद्यान में गया। वहां एक भव्य जैन मन्दिर था। वह जिन-वंदन में लीन हो गया। संयोग की बात थी, उसी समय वहां जिनमती का भी आना हो गया। वह भी जिन-भक्ति में लीन होकर स्तवना करने लगी। जिनदत्त उसकी लीनता को देखकर चकित हुआ। उसने अपने मित्रों से उसका परिचय पूछा। यह पहला ही प्रसंग था, जब कि जिनदत्त ने किसी कन्या के बारे में कोई जिज्ञासा की हो। मित्रों ने सझाकर सारे तथ्य उसको बतलाये और कहा—"यदि तुम दोनों का विवाह हो जाये, तो विधि का सारा प्रयत्न सार्थक हो जाये।"

विवाह का नाम सुनते ही जिनदत्त चौंका। उसने उनको टोकते हुए कहा—"धर्म-स्थान में भी विवाह-चर्चा ? ऐसा हास्य यहां नहीं करना चाहिए। और तुम्हें तो यह भी पता है, मैं संसार से उद्विग्न हूँ। तब भला, विवाह कैसा और किसका ? मैंने तो कन्या की धार्मिक भक्ति देखकर ही तुमसे पूछा है। मेरा अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।"

जिनदत्त का दो टूक उत्तर सुनकर मित्र निराश हुए। फिर भी उन्होने हार नही मानी। अवसर देखकर पुनः प्रयत्न करने का उन्होने मूक संकल्प किया।

जिनमती धार्मिक कृत्यों से निवृत्त होकर ज्यों ही मुड़ी, उसकी दृष्टि जिनदत्त पर पड़ी। जिनदत्त का उभरता हुआ यौवन, भव्य ललाट, तेजोमय नेत्र, दमकता हुआ चेहरा सब के मन में आकर्षण उत्पन्न करने वाला था। जिनमती का हृदय भी अनुराग से भर गया। उसने अव्यक्त रूप से अपना जीवन जिनदत्त को समर्पित फर दिया। साथ की सहेलियों से उसका वह अभिप्राय छुपा न रहा। घर आकर सखियों ने सार्थवाह प्रियमित्र को सारी घटना सुनाई। प्रियमित्र को इससे प्रसन्नता ही हुई।

जिनदास घर पर भोजन करके दुकान पहुंच गया था। प्रियमित्र जिनदास के पास आया। अपनी पुत्री के समर्पण का प्रस्ताव उसने जिनदास के समक्ष रखा। जिनदास को भी उस प्रस्ताव से प्रसन्नता हुई; अतः उसने उसे तत्काल स्वीकार कर लिया। सार्थवाह प्रियमित्र को भी अपार प्रसन्नता हुई। जिनदास ने जब जिनदत्त को विवाह का संवाद बतलाया तो, उसने उसका प्रतिकार करते हुए कहा—"यह तो आपको भी

ज्ञात है कि मैं दीक्षा लेना चाहता हूं।"

जिनदास के समक्ष कठिन पहेली उपस्थित हो गई। प्रियमित्र से वह हाँ भर चुका था और जिनदत्त उसके लिए सहमत नहीं हो पा रहा था। जिनदास ने पुत्र से सहसा पूछा—"क्या तुझे कभी जिनमती मिली थी?" जिनदत्त ने मंदिर में मिलन की सारी घटना बतलाई। जिनदास कुछ समय की प्रतीक्षा करने लगा।

नियति को क्या मान्य है, इसे कौन जान सकता है? जिनमती एक दिन कहीं जा रही थी। आरक्षक वसुदत्त ने उसे देखा। उसका दिल उसके प्रति अनुरक्त हो गया। प्रियमित्र के पास जाकर उसने जिनमती की याचना की। प्रियमित्र ने वसुदत्त को स्पष्ट शब्दों में बतला दिया, यह कन्या तो जिनदत्त को दी जा चुकी है। अब तो यह प्रश्न ही समाप्त है। प्रियमित्र की स्पष्टोक्ति से वसुदत्त को गहरी ठेस पहुंची। वह वहां से चला तो आया; पर, जिनदत्त के प्रति शत्रुता रखने लगा। उसके छिद्र देखने लगा और इस घात में रहने लगा कि किसी-न-किसी प्रकार से जिनदत्त को शीघ्राति-शीघ्र प्रेत्य-धाम का अतिथि बना दिया जाये।

राजा जितशत्रु एक बार घोड़े पर सवार होकर

उद्यान में गया। पूरा परिवार उसके साथ में था। अश्व-क्रीड़ा करते हुए राजा का एक कुण्डल कहीं गिर गया। शोध करने पर भी वह नही मिला। राजा ने आरक्षक वसुदत्त को उसे खोजने का दायित्व सौंपा। वसुदत्त चला। कुछ दूर जाने पर मार्ग में ही पड़ा हुआ वह कुण्डल उसे दिखलाई दिया। जिनदत्त किसी कार्य से उधर से निकला। वसुदत्त ने उसे भी देखा। जिनदत्त के वध का उसे अवकाश मिल गया। वसुदत्त राजा के पास गया। कुण्डल पाकर राजा को प्रसन्नता हुई। राजा ने जब यह पूछा कि कुण्डल कहां मिला तो वसुदत्त ने कह दिया, यह तो जिनदत्त से प्राप्त हुआ।

"जिनदत्त से ?" राजा ने साश्चर्य पूछा।

"हां, महाराज ! उसी से।"

"वह तो बहुत बड़ा धार्मिक व विचारक है न ? क्या वह ऐसा पाप कर सकता है !"

"महाराज ! धर्म की ओट में ही पापाचार सुगमता से हो सकता है। आपको मैंने इसीलिए आज तक निवेदित नहीं किया था। जिनदत्त के समान तो नगर में कोई दूसरा चोर ही नही है।"

वसुदत्त ने राजा को उबाल पर ला दिया। राजा

ने तत्काल आदेश दे दिया, विडम्बना पूर्वक जिनदत्त को शीघ्रातिशीघ्र मार डाला जाये। वसुदत्त का सब कुछ मन चाहा हो गया। उसने जिनदत्त को गिरफ्तार कर रासभ पर बिठलाया, रक्त चन्दन से सारे शरीर पर विलेप किया और शहर के प्रत्येक चौराहे पर उसे घुमाया। जनता में हाहाकार हो गया। जिनदत्त जैसे धार्मिक की इस प्रकार विडम्बना होगी, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। बहुत सारे व्यक्ति राजा को दोषी बताकर जिनदत्त की धार्मिकता की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे, जो जिनदत्त की धार्मिकता को आशंका की दृष्टि से भी देख रहे थे।

कोलाहल सुनकर जिनमती अपने गवाक्ष में आई। जिनदत्त की विडम्बना को देखकर उसका मानस दुःख से भर गया और नेत्रों के द्वारा वह टपक पड़ा। वह सिसकियां भरती हुई दुर्दैव को दोष देने लगी। सहसा जिनदत्त की दृष्टि भी जिनमती पर पड़ी। उसके हृदय में स्नेह जगा। उसका चिन्तन उभरा, भाग्य की कैसी विडम्बना है कि मैंने इसे सुख कुछ भी नहीं दिया और दुःख का अम्बार लगा दिया। मेरे प्रति इसकी इतनी आत्मीयता है और मैंने इसका अंकन कुछ भी नहीं

कोलाहल सुनकर जिनमती अपने गवाक्ष मे आई। जिनदत्त की *विडम्बना* को देखकर उसका मानस दुःख से भर गया और नेत्रो के द्वारा वह टपक पड़ा। वह सिसकियां भरती हुई दुर्दैव को दोष देने लगी। सहसा जिनदत्त की दृष्टि भी जिनमती पर पड़ी। उसके हृदय मे स्नेह जगा।

किया। यदि इस संकट से मैं किसी प्रकार छूट सका, तो इसके साथ विवाह कर इसकी कामना पूर्ण करूँगा। वहीं पर सागारी अनशन का प्रत्याख्यान कर वह आगे चल पड़ा।

जिनमती ने उस अवसर पर आध्यात्मिक अस्त्र का उपयोग किया। वह एकान्त में जाकर शान्त चित्त शासन देवी का स्मरण करती हुई कायोत्सर्ग में लीन हो गई। अखण्ड ब्रह्मचर्य तथा निबिड़ भक्ति का उसके पास अमोघ साधन था। शासनदेवी उसकी भक्ति से प्रभावित हुई। जिनदत्त को ज्यों ही शूलि पर चढ़ाया जाने लगा, एक-एक कर तीन बार जीर्ण तृण की तरह वह टूट गई। वसुदत्त दुष्टात्मा था। शूलि का प्रयोग जब असफल हो गया, तो उसने वृक्ष-शाखा से उसे बांधने का प्रयत्न किया। शासनदेवी ने वहां से भी रस्सी को काट डाला। वसुदत्त की असुरता सीमा को लांघ रही थी। उसने तलवार हाथ में लेकर कई प्रहार किये, पर, जिनदत्त पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ।

विस्मित जन-समूह ने तत्काल वह सारा उदन्त राजा को निवेदित किया। राजा विस्मित भी हुआ और भीत भी। वह जिनदत्त के पास आया। उसे

नमस्कार कर सत्कृत किया और हाथी पर अपने साथ बिठलाकर राज-सभा में ले आया। आदरपूर्वक उससे सारी घटना पूछी। जिनदत्त ने यथातथ्य प्रकाश डाला। वसुदत्त के षड्यंत्र का अपने-आप भण्डाफोड हो गया। राजा ने क्रुद्ध होकर नगर-रक्षक के वध का आदेश दिया। जिनदत्त दयालु था; अतः उसने राजा को ऐसा नहीं करने दिया। राजा ने वसुदत्त को अपने देश से निर्वासित कर दिया।

जिनदत्त की सहज धार्मिकता से राजा बहुत प्रभावित हुआ। उसने महोत्सव पूर्वक उसे अपने घर पहुंचाया। सार्थवाह प्रियमित्र ने जिनदत्त को जिनमती के कायोत्सर्ग की भी सारी घटना बतलाई। जिनदत्त को प्रसन्नता का होना सहज था। शुभ लग्न में जिन-दत्त और जिनमती का विवाह धूमधाम से सम्पन्न हुआ।

बहुत वर्षों तक जिनदत्त गृहस्थ जीवन में रहा। पर, उसका वैराग्य न्यून नहीं हो पाया। समय पाकर पत्नी के साथ आचार्य सुस्थित के चरणों में दोनों ने भागवती दीक्षा ग्रहण की और शुभ भावों में संयम पालन करते हुए देवलोक में गये।

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"श्रेष्ठिन्! साधु तो

जिनदत्त की तरह अपकारी पर भी उपकार करते हैं। उपकारी के प्रति कृतघ्नता का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तू धैर्य धारण कर। मैंने तेरा धन नहीं चुराया है।"

कुंचिक सेठ ने कहा—"भगवन्! आप अपने को जिनदत्त के तुल्य बता रहे हैं और मुझे आप निषाद के तुल्य लग रहे हैं। दोनों का मेल कैसे बैठे? यह पूर्व-पश्चिम का प्रश्न है।"

मुनिवर मुनिपति ने पूछा—"निषाद कौन था? उसका घटना-प्रसंग भी प्रकट करो।"

कुंचिक सेठ ने कहा—"हरिकान्ता नगरी में सैकड़ों बन्दर रहा करते थे। राजा हरिपाल बन्दरों का प्रतिपालक था। उसी नगरी में एक निषाद रहता था, जो क्रूर, निर्दय व कृतघ्न था। वह पापात्मा प्रतिदिन वराह, शूकर, हिरण आदि वनचरों को मारता था। उसी वन में राजा द्वारा पाले गये बहुत सारे बन्दर भी रहते थे। उनमें एक बन्दरी भी थी, जो माँस आदि से विरत तथा दया, दाक्षिण्य आदि गुणों से सन्निहित थी। एक दिन निषाद शस्त्र लेकर शिकार के लिए वन में चला। उसकी मुठभेड़ एक भयंकर व्याघ्र से हो गई। निषाद उसके आगे ठहर नहीं पाया। वह

दौड़ कर पास के एक वृक्ष पर चढ गया। वृक्ष पर वही बन्दरी मुख फैलाये बैठी थी। निषाद उसे देखकर डर गया। व्याघ्र गर्जता हुआ निषाद के पीछे-पीछे उसी वृक्ष के नीचे आ गया। बन्दरी ने परिस्थिति को तत्काल भांप लिया। उसने प्रसन्न-वदन होकर निषाद को आश्वास्त किया और उसके पास आकर बैठ गई। हार्दिक स्नेह की अभिव्यक्ति में उसने निषाद के केशों को सहलाना आरम्भ कर दिया। निषाद का मन उमंग से भर गया। उसकी भी उसके प्रति आत्मीयता जगी। वह बन्दरी के उत्संग मे सिर रखकर लेट गया।

व्याघ्र ने बन्दरी व निषाद के बीच भेद डालने के अभिप्राय से कहा—"तू ने उपकार का मार्ग लिया है; पर, जानती हो, संसार में उपकार का मूल्य सम-भता कौन है ? मनुष्य के लिए तो विशेष रूप से प्रसिद्ध है कि वह उपकार का अंकन करता नहीं है। वह तो उपकार का बदला अपकार से ही चुकाता है। इस बारे में एक उदाहरण प्रसिद्ध है—"किसी ग्राम में शिव नामक एक ब्राह्मण रहता था। एक बार वह यात्रा के लिए घूमता हुआ भयंकर जंगल में पड़ गया। प्यास से आकुल-व्याकुल हो गया। बहुत खोज करने पर एक पुराना कुआं ‸ दिखाई दिया। तिनकों की

रस्सी बनाकर उसने पानी निकालने का उपक्रम किया। ज्यों ही उसने रस्सी को वापस खींचा, उसके सहारे एक बन्दर बाहर आया। दूसरी बार पुनः रस्सी को कुएं में डाला गया, तो एक व्याघ्र और एक सर्प उसके सहारे बाहर आये। शिव ब्राह्मण के आश्चर्य का पार न रहा। दोनों ने ही शिव को प्रणाम कर आभार व्यक्त किया। बन्दर जाति-स्मरण ज्ञानी था। उसने भूमि पर अक्षर लिखकर शिव को सूचित किया, हम तीनों ही मथुरा के परिपार्श्व में रहते हैं। कभी उस ओर अवश्य आएं और हम सबका अतिथ्य स्वीकार करें। साथ ही एक सूचना भी है कि इस कुंएं में एक मनुष्य भी गिरा हुआ है। उसे न निकालें; क्योंकि वह महाकृतघ्नी तथा पापी है।

बन्दर, व्याघ्र व सर्प; अपने-अपने निवास की ओर चले गये। शिव कुएं पर बैठा-बैठा चिन्तन करने लगा, क्या उस मनुष्य को नहीं निकालना चाहिए? नहीं, मनुष्य ही मनुष्य के काम आता है। यह संकट में है, मुझे इसका सहयोग करना चाहिए। बन्दर पशु है। मनुष्य की उपयोगिता को वह क्या जाने? शिव ने पुनः रस्सी कुएं में डाली और उस मनुष्य को **बाहर** निकाल दिया। शिव ने उससे उसका परिचय **पूछा, तो**

उसने बताया—"मै मथुरावासी स्वर्णकार हूँ। किसी कार्यवश इधर आया था। प्यासा था; अतः पानी निकालने के लिए इस कुए पर आया। पैर फिसल जाने से मै गिर पडा। संयोगवश वृक्ष-शाखा हाथ में आ गई थी; अतः जीवन बच गया। मेरे गिरने के अनन्तर ही बन्दर, व्याघ्र व सर्प; ये तीनों भी गिर पड़े। कष्ट के समय हम चारों ही पारस्परिक वैर को भूल कर वृक्ष पर बैठ गये। हम तेरे उपकार को कभी भूल नही पाएँगे। कभी मौका हो, तो एक बार मथुरा अवश्य आना और मुझे भी सेवा का अवसर देना।" स्वर्णकार अपने घर की ओर चला गया।

शिव के मस्तिष्क में बन्दर का कथन तथा स्वर्णकार का निमंत्रण; दोनो ही लम्बे समय तक उभरते रहे। वह यथार्थता खोजता रहा, पर, रहस्य अज्ञात ही रहा।

ब्राह्मण शिव तीर्थ—यात्रा करता हुआ एक बार मथुरा के समीप वन में पहुचा। बन्दर ने उसे देखकर पहचान लिया। अपने उपकारी के आतिथ्य के लिए तत्काल वह सुस्वादु फल लेकर आया। शिव ने भी बन्दर को पहचान लिया। दोनों के ही उस मिलन ने आत्मीयता में वृद्धि की। शिव ज्यों ही कुछ आगे

बढ़ा, वह व्याघ्र भी उसे मार्ग में मिल गया । अपने आवासीय क्षेत्र में अपने उपकारी को देखकर व्याघ्र को बहुत प्रसन्नता हुई । कोई बहुमूल्य वस्तु भेंट करने के अभिप्राय से उसने खोज आरम्भ की । वाटिका में राजकुमार घूम रहा था । व्याघ्र ने उसे मार कर आभूषण उतार लिए और लाकर शिव को उपहृत कर अपनी मित्रता प्रदर्शित की । व्याघ्र ने शिव को प्रणाम किया और शिव ने व्याघ्र को आशीर्वाद दिया । दोनों अपने-अपने गन्तव्य की ओर चल पड़े ।

बन्दर और व्याघ्र, दो मित्र जब शिव को मिल गये, तो स्वर्णकार से मिलने की भी उत्सुकता हुई । वह नागरिकों से पूछता हुआ क्रमशः स्वर्णकार के घर पहुँचा । स्वर्णकार ने दूर से ही उसे देखकर पहचान तो लिया था; पर, कहीं चार आँखें न हो जाये; इस-लिए वह नजर फेर कर अपने काम में लग गया । शिव स्वर्णकार के पास पहुँचा । उसी ने स्वर्णकार से कहा—"क्यों, मित्र मुझे पहचानते हो ?"

स्वर्णकार ने प्रसंग को टालना चाहा । उदासीनता से उत्तर दिया—"अच्छी तरह

शिव ने व्याघ्र द्वारा दिये गए आभूषण निकाले और उनका मूल्य पूछा। साथ ही यह भी कहा—"इनका जो भी योग्य मूल्य हो, मुझे दो।"

उसने ध्यान पूर्वक देखा । उसने उनको पहचान लिया, क्योंकि वे उसके द्वारा ही बनाये गये थे । स्वर्णकार ने सोचा, सम्भव है, आभूषणों के लोभ से इस विप्र ने राजकुमार की हत्या की हो । यह ब्राह्मण मेरा गोत्रीय तथा स्वजन नहीं है । मैं इसके लिए क्यों आपदाओं को न्योता दूँ ? यदि ये गहने मेरे पास रह गये, तो जीवन संकट में फंस जायेगा । उसने उद्घोषणा का स्पर्श किया । राज-सभा में जाकर आभूषण प्रस्तुत कर दिए और अपहर्ता ब्राह्मण का नाम खोल दिया । राजा का रोष भड़क उठा । तत्काल सेवकों को भेज कर नदी के तट पर से शिव ब्राह्मण को गिरफ्तार करवा लिया । दृढ बन्धनों से बांध कर सभा में उपस्थित किया गया । राजा ने सभासदों से पूछा—"राजकुमार के हत्यारे को क्या दण्ड दिया जाना चाहिए ?"

एक मत होकर सभी सभासद् बोल उठे, "वेद-वेदांगों का विद्वान् होकर भी यदि यह मनुष्य-हत्या करता है, तो राजा के द्वारा यह वध्य ही होता है । इसको मृत्यु-दण्ड देने में राजा को कोई पाप नहीं होता ।"

राजा ने उसी समय आदेश सुना दिया । शिव

ब्राह्मण को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर भी नहीं दिया गया। राजपुरुषों ने उसे पकड़ कर रासभ पर बिठलाया और लाल चन्दन का विलेप किया गया। जिब वध-स्थान की ओर ले जाया जा रहा था। उसे इस अवसर पर बन्दर का वह कथन याद आया। वह सोचने लगा, बन्दर का कहना मानकर यदि इस कृतघ्न स्वर्णकार को कुएं में से नहीं निकालता तो क्या आपत्ति थी ? मैंने अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाई है। पर, अब क्या हो ? व्याघ्र और बन्दर की कितनी कृतज्ञता थी और स्वर्णकार की कितनी कृतघ्नता ? वध-स्थान की ओर जाते हुए उसके मुंह से अनायास ही एक श्लोक का उच्च स्वर से उच्चारण हो रहा था :

व्याघ्र वानर सर्पाणां यन्मया न कृतं वचः ।

लिए वह वहां से उद्यान की ओर चला। वहां राजकुमारी सखियों के साथ क्रीड़ा कर रही थी। सर्प ने राजकुमारी को डस लिया। राजकुमारी मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी। राजा को जब यह संवाद ज्ञात हुआ, दुहरे शोक में डूब गया। राजकुमार का दुःख भूल ही नहीं पाया था कि राजकुमारी की दुःखद घटना घट गई। राजा ने तत्काल कुशल मंत्रवादियों को बुलाया। राज-कन्या के अनेक उपचार किए गये; पर, परिणाम कुछ भी नहीं निकला। उसी समय एक अनुभवी मंत्रवादी ने कहा—"राजन् ! मैं अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर एक सूचना दे रहा हूँ और वह यह है कि जिस ब्राह्मण को आपने मारने का आदेश दिया है, वह निर्दोष है। यदि आप इसको मुक्त कर दें, तो निश्चित ही इस संकट से उबर जाएंगे।"

"ब्राह्मण की निर्दोषता का क्या प्रमाण है ?" राजा ने घूरते हुए पूछा। मंत्रवादी ने सारी पूर्व घटना पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए कहा—"बन्दर और व्याघ्र ने इसका आतिथ्य किया और स्वर्णकार ने इसे धोखा दिया।"

राजा ने मंत्रवादी के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—"यह बात तो बनावटी भी हो सकती है।

मैं इस पर कैसे विश्वास कर सकता हूँ ?"

मंत्रवादी ने सर्प को राजकुमारी के शरीर पर उतारा और उसके मुंह से सारी घटना कहलवाई। सुनते ही राजा को विश्वास हो गया और ब्राह्मण को मुक्त कर दिया गया। राज-कन्या निर्विष होकर स्वस्थ हो गई। मंत्रवादी ने ब्राह्मण से कहा—"तुझे जीवन देने का श्रेय सर्प को है।" ब्राह्मण के मुंह से सहसा निकला, क्रूर प्राणी कृतज्ञ और स्वर्णकार कृतघ्न; विधि का कैसा वैचित्र्य है ?

राजा ने शिव ब्राह्मण को पूछकर घटना की विश्वसनीयता प्राप्त की और उसका सत्कार कर मंत्रिपद पद पर नियुक्त किया। स्वर्णकार को देश से निर्वासित कर दिया। शिव ब्राह्मण की नागदेवता के प्रति हार्दिक श्रद्धा बढ़ी। तब से उसने नाग-पूजा आरम्भ की और समाज में नाग-पंचमी का प्रवर्तन हुआ।

व्याघ्र ने अपने कथन का उपसंहार करते हुए कहा—जिस प्रकार ब्राह्मण ने स्वर्णकार से विपदाएं प्राप्त की थीं; उसी प्रकार इस भील से तुझे भी आपदाएं झेलनी पड़ेंगी। इसका तनिक भी विश्वास मत करो। मेरे शिकार को नीचे गिरा दो।

बन्दरी ने निषाद को नीचे नही गिराया । व्याघ्र वही बैठ गया । वह सोचने लगा, यह बन्दरी कैसी निश्चल है । इतना कहने पर भी अपने निश्चय से विचलित नही हुई है । कुछ ही क्षणों बाद निषाद जग गया और बन्दरी उसके उत्संग में लेट गई । व्याघ्र ने निषाद से कहा—"देख, तूने इस बन्दरी को सब कुछ समझ रखा है; पर, इसका विश्वास मत करना । यह बहुत हराम है । अभी प्रेम दिखाती है, पर, समय पर धोखा देती हुई भी नही चूकेगी । मैं तेरे हित की बात कह रहा हूँ । मै सात दिन का भूखा हूँ । बिना शिकार मिले, मैं यहां से नही लौटूगा । तुझे अपने घर जाना है । तुम्हारे पारिवारिक तेरी प्रतीक्षा करते होगे । मैं मार्ग रोके बैठा हूँ । बताओ, घर कैसे जाओगे ? इसी में ही लाभ है कि बन्दरी को नीचे धकेल दो । मैं इसे खाकर यहां से चला जाऊँगा । तेरा मार्ग निरापद हो जाएगा ।"

व्याघ्र ने एक ही सांस में बहुत सारी बातें कह डाली । साथ ही उसने यह भी कहा—"बन्दर जाति ही ऐसी है, जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता । एक बन्दर ने तो राजा के भी प्राण ले लिए थे । उसकी कथा भी सुनो ।"

नागपुर में पावक नामक राजा था। एक बार वह विपरीत शिक्षा के घोड़े से प्रेरित घोर अरण्य में पहुँच गया। भूख-प्यास से पीड़ित वह चारों ओर घूम रहा था। वहां उसे एक बन्दर मिला। बन्दर ने राजा को स्वादिष्ट फल लाकर दिए और उसे स्वच्छ तथा शीतल जल से परिपूर्ण एक सरोवर दिखलाया। राजा ने फल खाये और पानी पिया। वृक्ष की छाया में सुख पूर्वक बैठा था। पीछे से सेना भी आ गई। राजा नगर की ओर चला, तो उसने उस बन्दर को भी अपने साथ ले लिया। बन्दर के प्रति राजा के मन में बहुत आदर-भाव था। वह उसे प्रतिदिन मिष्टान्न तथा स्वादिष्ट फल खिलाता। वस्त्र-आभूषणों से अलंकृत करता। बन्दर बहुत दक्ष था; अतः राजा ने उसे अपने अंग-रक्षक के रूप में नियुक्त कर दिया। राजा के शरीर की छाया की तरह वह प्रतिदिन उसके साथ रहता।

वसन्त का समय था। राजा उद्यान में गया। नाना क्रीड़ाएं करने के अनन्तर थका हुआ वह एक वृक्ष के नीचे लेट गया। बन्दर हाथ में तलवार लेकर अंग-रक्षक के रूप में सजग बैठा था। इसी बीच एक भ्रमर आया और राजा के शरीर पर बैठ गया।

बन्दर को यह बहुत बुरा लगा। उसने उसे उड़ाने के लिए अनेक प्रयत्न किये; पर, वह ढीठ नहीं उड़ा। बन्दर ने उस पर तलवार से प्रहार किया। भ्रमर उड़ गया; पर, राजा के इतना गहरा घाव लगा कि वह वहीं मर गया।

व्याघ्र ने कहा—"जो बन्दर राजा को मार सकता है, वह तेरे साथ क्या नहीं कर सकता? तू इसकी चालबाजी में न आना। मैं तुझे रास्ता दिखा रहा हूं। इसमें मेरे से अधिक तेरा भला है। डाल दे, इस बन्दरी को नीचे।"

निषाद का स्वार्थ जगा। उसने बन्दरी को नीचे डाल दिया। व्याघ्र ने उसे अपने मुंह में दबोच लिया। अपने पंजों के बीच दबाते हुए व्याघ्र ने कहा—"भद्रे! दुःखित न होना। जिस प्रकार के व्यक्ति की संगति की जाति है, वैसा ही फल मिलता है।"

बन्दरी में तात्कालिक उपज थी। वह घबडाई नहीं। उसी समय बोल उठी—"बन्धुवर व्याघ्र! आज मैं सौभाग्यशालिनी हूँ कि मेरा शरीर तुम्हारे काम आयेगा। तुम मेरे पर रहम न करना। शीघ्र ही मेरा मांस खाओ। पर, मेरा एक निवेदन है और वह यह है कि बन्दरी के प्राण सारे शरीर में न रहकर केवल

पूँछ में रहते हैं; इसलिए पहले तुम मेरी पूंछ को खाओ। इससे तुम्हें भी मेरा मांस स्वादिष्ट लगेगा और मैं भी वेदना-मुक्त रह सकूँगी।"

व्याघ्र ठहाका मार कर हंसा और उसने बन्दरी के शरीर को छोड़ कर पूंछ पकड़ने का प्रयत्न किया। बन्दरी सावधान थी। तत्काल उछल कर वह वृक्ष पर चढ़ गई। व्याघ्र बन्दरी के द्वारा छला गया। बन्दरी अपने प्राण बचाकर भाग निकली। उसके विचार इतने उच्च थे कि उसने निषाद पर तनिक भी द्वेष नहीं किया; अपितु स्नेहिल वाणी में बोली—"बन्धु-वर! अब व्याघ्र चला गया है। तुम नीचे उतरो। चलो, हम साथ-साथ ही चलें।"

दोनों नीचे उतरे। बन्दरी निषाद को लता-निकुंज में ले गई, जहाँ कि उसके बच्चे किलकारियां कर रहे थे। बन्दरी निषाद को वहां बिठलाकर उसके आतिथ्य के लिए फल लाने के लिए गई, निषाद का पेट भूख से चुलबुलाने लगा। उसने बन्दरी के बच्चों से भूख शान्त की और निश्चिन्त लेट गया। कुछ समय बाद स्वादिष्ट फल लेकर बन्दरी लौटी। निषाद वहां था; पर, उसके बच्चे वहाँ दिखाई नहीं दिए। उसकी आकुलता बढ़ गई। उसने निषाद को जगाकर फल

दिए और स्वयं बच्चों को खोजने के लिए निकल पडी। निषाद भी उसके साथ चल पडा। उसके मन में फिर पाप जगा। सोचने लगा, आज कुछ भी हाथ नही लगा। खाली हाथ घर लौटना उचित नही रहेगा। उस दुष्टात्मा ने लाठी से पीटकर बन्दरी को मार डाला।

पापी निर्दय होता है। उसे किसी का लिहाज नही होता। मृत बन्दरी को लेकर वह घर की ओर चला। कुछ दूर जाने पर वही व्याघ्र उसे मिला। बन्दरी के शव को देखकर व्याघ्र ने कहा—दुष्ट! तूने यह क्या किया? जिसने तुझे भाई की तरह माना, उसके प्राण लूटते हुए भी तुझे ग्लानि नही हुई? पातकी! मेरी आँखों के आगे से हट जा। तेरा मुंह देखने से मैं भी पापी होऊँगा। यदि तुझे मारूंगा, तो तेरी कृतघ्नता का पाप मुझे भी लगेगा; अतः मैं तुझे जीवित ही छोड़ता हूँ।

निषाद की भावना में फिर भी कोई परिवर्तन नही हुआ। नृशंसता में झूमता हुआ घर पहुँचा। राजा को बन्दरी की उक्त घटना का जब पता लगा, तो बहुत क्षुब्ध हुआ और सोचने लगा, मैं जिनकी रक्षा करता हूँ, उनको मारने की इस निषाद ने धृष्टता

की ? राजा की आज्ञा की अवहेलना करना, बिना शस्त्र ही उसका वध करना है। दुष्ट निषाद ने ऐसा ही किया है, इसे उचित दण्ड देना चाहिए। उसी समय राजपुरुषों के द्वारा उसे गिरफ्तार करवाया गया। नाना प्रकार से विडम्बित करते हुए उसे वध स्थान की ओर ले जाया जा रहा था। राजा भी साथ में था। वही व्याघ्र पुनः रास्ते में मिला। राजा से उसने कहा—"आप इस दुष्ट को न मारें। इसने जो पाप किया है, उसकी गुरुता इतनी है कि यदि आप इसको मारेंगे, तो उस पाप का कुछ हिस्सा आपको भी मिलेगा। पापात्मा अपने कर्म-दोष से स्वयं ही विनष्ट हो जाते हैं।"

व्याघ्र से मनुष्य भाषा में बातें सुनकर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने इस रहस्य के प्रतर खोलने का कहा।

"राजन् ! इस वन में विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न आचार्य प्रवास कर रहे हैं। यह प्रश्न तुम उनसे ही करो।" व्याघ्र ने रहस्य को और गम्भीर कर दिया और स्वयं वहां से चला गया।

राजा ने निषाद को देश से निर्वासित करने के आदेश प्रसारित कर दिए। स्वयं तत्काल सूरिराज के

चरणों में उपस्थित हुआ। वन्दना के अनन्तर अंजलि-बद्ध होकर व्याघ्र द्वारा निर्दशित प्रश्न पूछा—"भगवन् ! वह बन्दरी मर कर कौनसी गति मे गई है ?"

"राजन् ! शुभ ध्यान व शुभ लेश्या में मर कर वह देवलोक में गई है।" आचार्यवर ने कहा।

"भगवन् ! वह पापात्मा निपाद मर कर कहां जाएगा ?" राजा ने दूसरा प्रश्न पूछा।

"राजन् ! नरक के अतिरिक्त उसके लिए दूसरा कौनसा स्थान हो सकता है ? कृतघ्न, निर्दय, पापी, द्रोही, क्रूर नरक में ही जाते है।" आचार्य ने उत्तर दिया।

"भगवन् ! व्याघ्र पशु होता हुआ भी मनुष्य की भापा मे कैसे बोलता था ?" राजा ने विनम्रता से पूछा।

"क्या तुम उसे पशु ही समझते हो ?" आचार्य ने प्रतिप्रश्न करके उसे और रहस्यमय बना दिया।

"भगवन् ! क्या वह पशु नहीं था ? वह कौन था ? कृपया, वतलाने का अनुग्रह करें।"

आचार्य ने कहा—सौधर्म देवलोक मे इन्द्र के एक सामानिक देव की देवी च्यवकर मनुष्य लोक में कहीं उत्पन्न हुई। देवी के अंग-रक्षक देवों ने उसके पति देव से पूछा—इस विमान में कोई देवी उत्पन्न होगी

या नहीं ? यदि होगी तो कौन होगी ? तब उस देव ने कहा—वन में एक बन्दरी है। वह मर कर निश्चित ही यहां देवी होगी। तब उनमें से एक देव व्याघ्र का रूप बनाकर उसकी परीक्षा के लिए यहां आया। वह व्याघ्र वस्तुतः तिर्यञ्च नहीं, देव था।

घटनात्मक वृत्तान्त को सुनकर राजा का वैराग्य प्रौढ़ हुआ। उसने राजकुमार को राज्य का सारा भार सौंपा और उन्हीं आचार्य-चरणों में प्रव्रजित हो गया। निरतिचार संयम का पालन करते हुए वह आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग में देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

कुंचिक सेठ ने मुनिवर मुनिपित को कहा—"भगवन् ! आप भी उस निषाद से कम नहीं हैं। आपकी कृतघ्नता ने अनायास ही मुझे उसकी स्मृति करवा दी है। जब-जब मैं आपके इस व्यवहार के बारे में चिन्तन करता हूँ, मेरी आत्मा रो पड़ती है।"

मुनिवर मुनिपति ने सेठ के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—"आत्मा तेरी नहीं, मेरी रो रही है। एक साधु पुरुष पर इस प्रकार कलंक मढ़ना तेरा काम नहीं होना चाहिए। तू तो देवी की तरह संताप को न्यौता दे रहा है। साधु की आत्मा को परिताप देने वाला परिताप ही पाता है।"

कंचिक सेठ ने प्रश्न किया—"वह कैसे ?"

मुनिवर मुनिपति ने कहा—मगध देश के किसी ग्राम में वीर नामक एक चोर रहता था। उसकी पत्नी का नाम देवी था। चोर प्रतिदिन चोरी करता था और उसी के आधार पर अपनी आजीविका चलाता था। उसके घर की दीवार के बिल में एक नेवली ने एक बच्चे को जन्म दिया। देवी को वह बहुत प्रिय था; अतः अपने पुत्र की तरह अन्न-पान आदि से उसका पालन करती और बड़े प्यार से उसे अपने घर में ही रखती थी। एक बार देवी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र कुछ बड़ा हुआ, तो नेवले के साथ ही खेलने लगा। दोनों की पारस्परिक प्रीति विशेष थी। एक दिन देवी अपने पुत्र को मंचिका पर सुला कर पड़ोसी के घर अनाज साफ करने के लिए गई। मंचिका के पास एक बिल था। उसमें से एक सर्प निकला। नेवले ने उसे देखा। तत्काल वह उस पर टूट पड़ा और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। पुत्र की रक्षा हो गई। देवी को बधाई देने के अभिप्राय से नेवला दौड़कर पड़ोसी के घर गया। खून से सने हुए उसके मुंह को देखकर देवी ने सोचा, यह मेरे पुत्र को मार कर आया है। उसने मूसल उठाया और नेवले पर दे

मारा। नेवला वहीं मर गया। दौड़कर अपने घर आई। लड़का आनन्द से सो रहा था और पास में ही सर्प मरा पड़ा था। वस्तु स्थिति को जानकर देवी इतनी संतप्त हुई कि वह संताप उसका कभी दूर नहीं हुआ।

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"श्रेष्ठिन्! तू भी ऐसा ही कर रहा है। जो कलंक मेरे पर मढ़ रहा है, उसका संताप जन्म-जन्मातर में भी दूर नहीं हो पायेगा। सोच-समझ कर कदम बढ़ाना चाहिए।"

कुंचिक सेठ ने कहा—"आप तो उस पामर[१] की तरह हैं, जिसने गज-मुक्ता देने वाले हाथी के जीवन को ही संकट में डाल दिया था।"

मुनिवर मुनिपति ने पूछा—"पामर कौन था? सारी घटना बताओ तो सही?"

कुंचिक सेठ ने कहा—एक सघन वन में श्वेत हाथी सात सौ हथिनियों के परिवार से रहता था। एक बार वन में भ्रमण करते हुए उसके पैर में एक कील लग गई। भयंकर वेदना का अनुभव करता हुआ वह सात दिन तक एक ही स्थान पर भूखा-प्यासा पड़ा

---

१. असंस्कारी व्यक्ति (भील)

रहा। एक हथिनी ने कहीं पर एक पामर को सोये हुए देखा। सूंड से उसे जगाकर हाथी के पास लाई। पामर ने चातुरी से उस कील को निकाल दिया। हाथी की वेदना की उपशान्ति का आरम्भ हो गया। हाथी ने अपने उपकारी के प्रति आभार प्रकट करते हुए पामर को बहुत सारे बहुमूल्य मोती और हाथी-दांत दिए। पामर उन्हें लेकर अपने घर आ गया। उसकी गरीबी समाप्त हो गई और समृद्धि बढने लगी। जनता ने उससे समृद्धि का कारण पूछा, तो उसने सारी घटना बतलाई। क्रमशः फैलती हुई वह बात राजा के कानों तक भी पहुँच गई। राजा ने अपने कौशल से उस गज-यूथ को खड्डे में डालकर क्रमशः पकड़ लिया और नगर में लाकर आलान-स्तम्भों से बांध दिया।

कुंचिक ने अपने कथन में बल भरते हुए कहा—"आप भी उस पामर के समान है। जिस हाथी ने उसको बहुमूल्य वस्तुएं दी थी; उसी को उसने संकट में डाल दिया। मुनिवर! आपने भी मेरे साथ यही किया है। जिस सम्पत्ति पर मेरा सारा भावी जीवन निर्भर था, आपने उसे चुराकर मुझे संकट में डाल दिया है।"

हाथी ने अपने उपकारी के प्रति आभार प्रकट करते हुए पामर को बहुत सारे बहुमूल्य मोती और हाथी-दांत दिये। पामर उन्हें लेकर अपने घर आ गया।

मुनिवर मुनिपति के इतने प्रयत्न करने पर भी कुचिक सेठ अपने दुराग्रह को नहीं छोड रहा था, तो वे अत्यन्त खिन्न हुए। उन्होने कुछ कडे शब्दों में कहा—"सेठ ! तेरे से तो पशु भी अच्छे है, जो वास्तविकता को कसौटी पर कसकर शीघ्र ही पहचान लेते हैं। मेरे द्वारा इतना बल दिए जाने पर भी तू अभी तक भी यथार्थता को नही पहचान रहा है। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !!"

"भगवन् ! पशु विचारवान् कैसे होते है; कृपया किसी उदाहरण से इसे स्पष्ट करने का अनुग्रह तो करें।" सेठ ने कुछ नम्रता के साथ निवेदन किया।

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"वैताढ्य पर्वत पर किसी एक गुफा मे एक सिंहनी रहती थी। मृगी और शृगाली उसकी दो सखियां थी। तीनों की पारस्परिक प्रीति बहुत घनिष्ठ थी। एक बार सिंहनी ने एक शावक को जन्म दिया। सिंहनी को भूख लगी, तो शावक को दोनो सखियों के पास छोडकर जंगल में शिकार के लिए चली गई। मृगी लेट गई। शृगाली का पेट भी चुलबुलाने लगा। सिंह-शावक को सामने बैठा देखकर वह प्रसन्न हुई। वह उसे खा गई। अपने पाप को छुपाने के लिए उसने मृगी के मुख पर खून

लगा दिया और स्वयं कहीं चली गई।

पापी अपने पाप को छुपाने का प्रयत्न करता है, पर, उसमें बहुधा उसे सफलता नहीं मिलती। कुछ ही समय बाद सिंहनी लौट आई। वहाँ उसे अपना शावक दिखलाई नहीं दिया। वह बेचैन हो गई। इधर-उधर घूम ही रही थी कि शृगाली भी वहां आ गई। सिंहनी ने उससे शावक के बारे में पूछा। शृगाली का तो षड्यन्त्र था ही। उसने तत्काल कहा—"मैं तो यहां थी ही नहीं। किसी कार्यवश अपने घर गई हुई थी; अतः मुझे तो कुछ भी जानकारी नहीं है। परन्तु, मृगी का मुंह खून से सना हुआ है। कहीं इसने तो इसे नहीं मार डाला है ?"

सिंहनी ने मृगी को जगाया और शावक के बारे में पूछा। मृगी ने कहा—मुझे तो कुछ भी जानकारी नहीं है। मैं तो उसी समय लेट गई थी। उसने शृगाली की ओर उन्मुख होकर कहा—"सखि ! यहां हम दो के अतिरिक्त तो कोई आया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। तुम बताओ, बात क्या है ?"

शृगाली बड़ी धूर्त थी। उसने कहा—"सखि ! तेरे मुंह पर खून लगा हुआ है। कहीं तू ही तो उसे मार कर नहीं निगल गई है ? अपना निरीक्षण

कर ।"

मृगी ने मिथ्या आक्षेप का ज्यों ही खण्डन करना आरम्भ किया, त्यों ही सिहनी ने सोचा मृगी, तो तृण-भक्षिणी है; अतः यह मेरे शावक को नही खा सकती। शृगाली मांस-भक्षिणी है; अतः सम्भव है, इस धूर्ता ने ही ऐसा किया हो । उसने दोनों से कहा—"तुम विवाद में न पडो । दोनों ही वमन करो । अभी यथार्थता का पता लग जायेगा ।"

चोर की दाढ़ी में तिनका होता है; साहूकार के नहीं । मृगी ने तत्काल वमन कर दिया । सूखे तृण आदि ही उसमें निकले; पर, माँस आदि कुछ भी नहीं । शृगाली से जब वमन के लिए कहा गया, तो उसने बहुत समय तक आना-कानी की । किन्तु, सिहनी के आग्रह पर उसे वैसा करना पड़ा । उसके वमन में हड्डी, चमड़ी व माँस के टुकड़े निकले । वास्तविकता प्रकट हो गई । सिहनी का रोष भड़का । उसने भी शृगाली को वही मार कर प्रतिशोध लिया ।

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"पशु भी विचारवान् होते हैं और अपनी बुद्धिमत्ता से यथार्थता को आँक लेते हैं । क्या सेठ ! तू ऐसा नही कर सकता ? अवश्य कर सकता है, पर, उसी समय जब अपने आग्रह

से ऊपर उठेगा।"

कुंचिक सेठ ने पुनः अपने आग्रह को दुहराया और कहा—"भगवन् ! आप तो सिंह के समान कृतघ्नी हैं; अतः मैं आपके कथन को कैसे मान लूं?"

मुनिवर मुनिपति ने पूछा—"कृतघ्नी सिंह कौन था ?"

कुंचिक सेठ ने कहा—हिमवन्त पर्वत के समीप तापसों का एक आश्रम था। उसी के समीप गुफा में एक निशाचर रहता था। तापसों की संगति से उसने हिंसात्मक कार्यों को छोड़ दिया एवं दयालु हो गया। वह तापसों की भक्ति में भी अग्रणी था। एक बार शीत ऋतु में कोई एक सिंह सर्दी में ठिठुरता हुआ उसकी गुफा में आकर सो गया। निशाचर बाहर गया हुआ था। ज्यों ही वह लौटा, उसने सिंह को वहां देखा। दया-भाव से उसने उसको कोई कष्ट नहीं दिया और स्वयं गुफा के बाहर सर्दी में लेट गया। सिंह ज्यों ही सो कर बाहर आया, निशाचर को खा गया।

सेठ ने कहा—"मुनिवर ! आप भी उस सिंह से कम नहीं हैं। आश्रय-दाता को ही समाप्त करने का यह आपका उपक्रम मुझे बहुत खल रहा है।"

मुनिवर मुनिपति के द्वारा इतने स्पष्टीकरण किये जाने के बावजूद भी जब सेठ के विचार नहीं बदले, तो मुनिवर उद्वेलित हो गये। उन्होंने कहा—"श्रेष्ठिन्! लगता है, मुझे भी कठ वणिक् की तरह अपना कलंक दूर करने के लिए तुझे दो हाथ दिखाने होंगे। मैं नहीं चाहता, किसी प्रकार से तेरी कोई हानि हो। पर, तू अपना दुराग्रह छोड़ ही नहीं रहा है, तो मुझे भी अपना मार्ग चुनना होगा।"

मुनिवर की स्पष्टोक्ति से सेठ कुछ-कुछ भीत हुआ; फिर भी उसने साहस करके पूछा—"कठ वणिक् कौन था?"

मुनिवर मुनिपति ने कहा—राजगृह में श्रेणिक राजा राज्य करता था। चेलणा उसकी महारानी थी। उसी नगर में महादयालु, बारह व्रत-धारी श्रावक कठ रहता था। भद्रा उसकी सेठानी थी।

श्रावक कठ ने एक बार अपने आवास के लिए एक भव्य मकान बनवाया। छः महीनों में उसका काम सम्पन्न हुआ। कठ ने सूत्रधारों को धन आदि से सन्तुष्ट कर विसर्जित किया। नैमित्तिकों से शुभ मुहूर्त पूछकर ज्यों ही वह प्रवेश करने को उद्यत हुआ, त्यों ही सभा-मडप के नैऋत्य कोण में उसे छींक आई।

ज्योतिषियों ने कहा—"इस समय प्रवेश न करो। यदि प्रवेश किया गया, तो महान् उद्वेग होगा।"

कठ ने ज्योतिषियों का प्रस्ताव स्वीकार किया। दूसरा मुहूर्त देखकर प्रवेश की तैयारियाँ की गईं। कठ ने जिस समय प्रवेश किया, एक कुत्ता मुंह में भक्ष्य लेकर दक्षिण दिशा से आकर कठ के बाईं ओर बैठ गया। कठ ने पुनः ज्योतिष-शास्त्रियों से पूछा। उन्होंने कहा—"यह बहुत अच्छा शकुन है। सब सिद्धियों के द्वार स्वतः खुले मिलेंगे।"

शकुन भावी की सूचना देने वाले होते हैं। अच्छे शकुन से प्रफुल्लित होकर कठ ने प्रवेश आरम्भ किया। उसी कुत्ते ने अपने कान खुजलाये। कठ ने ज्योतिषियों की ओर देखा। उन्होंने कहा—"निश्चिन्त रहें। यह और भी अच्छा शकुन है। प्रवेश के समय यदि कुत्ता कान खुजलाता है, तो महान् द्रव्य-लाभ होता है और ख्याति में चार चांद लगते हैं।" कठ ने तत्काल शकुन की गाँठ बांध ली। परिवार के साथ आमोद-प्रमोद में प्रवेश किया गया। पारिवारिकों और मित्रों को भोजन आदि से सत्कृत कर संतर्पित किया।

भद्रा एक बार रात्रि में आनन्द से सो रही थी।

उसने स्वप्न में समुद्र में तैरती हुई एक नाव देखी। जगते ही उसने स्वप्न से पति को सूचित किया। कठ ने कहा—"स्वप्न बहुत अच्छा है। महान् प्रभावक पुत्र होगा।" कठ की भविष्यवाणी सही निकली। समय पूर्ण होने पर भद्रा ने पुत्र को जन्म दिया। महोत्सव पूर्वक उसका सागरदत्त नामकरण किया गया। पांच धाय माताओं से वह पाला जाने लगा। क्रमशः उसके सभी अवयवों का पूर्ण विकास हुआ। बत्तीस ही शुभ लक्षणों का उदय हुआ।

सागरदत्त आठ वर्ष का हुआ। उसे पढ़ने के लिए लेखशाला में भेजा गया। उस दिन भी सभी पारिवारिकों को भोजन के लिए निमंत्रित किया गया। दो मुनि आहार के लिए कठ के घर आये। आंगन के वृक्ष पर बैठा हुआ एक मुर्गा उस समय बोला—"श्रेष्ठिन्! मैं तेरे पुत्र को राज्य दूंगा; अतः मुझे भी भोजन दो।" एक मुनि ने सिर हिलाया। दूसरे मुनि को इससे आश्चर्य हुआ। उसने उससे उसका रहस्य पूछा। प्रथम मुनि ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"इस मुर्गे के योग से इस बालक को महान् राज्य मिलेगा।" कठ ने दोनों मुनियों की बात को सुना। उसने मुनिवर को सभक्ति आहार बहराया। मुनिवर अपने स्थान

पर चले गये। सेठ ने मुर्गे को सावधानी पूर्वक अपने घर रखा। सागरदत्त विद्याभ्यास में लीन हो गया।

राजा श्रेणिक ने एक बार कठ को यवन देश में जाकर बहुमूल्य वस्त्र लाने का आदेश दिया। कठ ने उसे स्वीकार कर लिया। घर आकर उसने सेठानी भद्रा से उक्त चर्चा की। भद्रा को इससे आघात लगा। उसने कहा—"आपका एक दिन का विरह भी मेरे लिए असह्य है। मैं तो आपको किसी भी परिस्थिति में नहीं जाने दूँगी। घर में अकेली रहूँगी, तो मेरे लिए दिन पहाड़ के बराबर हो जाएंगे।"

कठ ने कहा—"यह कार्य तो राजा का है। उसे इन्कार नहीं किया जा सकता। मैं बहुत शीघ्र ही कार्य सम्पन्न कर लौट आऊंगा।"

भद्रा ने कहा—"तो फिर मेरे लिए किसी आलम्बन की व्यवस्था करो।"

कठ दुकान पर आया। वहाँ उसे एक ब्राह्मण मिला। उसके हाथ में एक पिंजरा था, जिसमें शुक-युगल था। कठ ने पिंजरे को अपने हाथ में लिया। शुक-युगल ने कठ को आशीर्वाद दिया। सेठ शुक-युगल से आकर्षित हुआ। उसने ब्राह्मण के हाथ में पांच सौ मुद्राएं दे दीं और उस पिंजरे को अपने पास रख

सेठ दुकान पर आया। वहां उसे एक ब्राह्मण मिला। उसके हाथ में एक पिंजरा था, जिसमें शुक-युगल था। सेठ ने पिंजरे को अपने हाथ में लिया। शुक-युगल ने सेठ को आशीर्वाद दिया।

लिया। शुक कठ के साथ मनुष्य-भाषा में बातें करने लगा। कठ को आश्चर्य हुआ। उसने शुक से इसका रहस्य पूछा।

शुक ने रहस्य को प्रकट करते हुए कहा—"मैं मानव नहीं हूँ, देव हूँ। अभिशप्त जीवन जी रहा हूँ।"

देव और अभिशप्त जीवन; कठ को और भी आश्चर्य हुआ। कठ कुछ भी पूछे, उससे पहले ही शुक ने कहना आरम्भ किया—"मैं धरणेन्द्र की सभा का नन्दावर्त नामक अनुचर हूँ। धरणेन्द्र ने एक बार मुझे आदेश दिया, मनुष्य लोक में जाओ। वाराणसी में उद्यान के मन्दिर में भगवान् पार्श्वनाथ जीवन्त-स्वामी की मूर्ति है। वहां जाकर त्रिकाल पूजा करो तथा सब प्रकार की आशातनाओं का निवारण करो। इस आदेश से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। देवलोक छोड़ कर मैं यहाँ आ गया और प्रतिदिन सेवा करने लगा।

एक दिन कोई एक विद्यासिद्ध पुरुष इसी वन में आया। राजपुत्र, व्यापारी-पुत्र तथा सामन्त आदि उसकी परिचर्या में संलग्न थे। एक गोपाल भी वहां आया। उसने आग्रह किया, स्वामिन्! कृपा कर मुझे भी तो कुछ दो। उसके पुनः-पुनः कहने पर सिद्धपुरुष को गुस्सा आ गया। उसने कहा—"रे जा पर हुं

फिट्" । अज्ञान गोपाल ने मन में सोचा, निश्चित ही यह कोई मंत्र है । उसने उसे दृढ़ता से पकड़ लिया और मंदिर में जाकर जाप करने लगा । वह तीन दिन तक भूखा-प्यासा जाप में लीन रहा । मैंने उसे डराने के भी अनेक प्रयत्न किए, पर, वह नहीं डरा । मैं उसकी दृढ़ता से प्रभावित हुआ । प्रत्यक्ष होकर मैंने उससे वरदान मांगने के लिए कहा । गोप बहुत चतुर था । उसने मांगा—"मेरा कोष्ठागार रत्नों से भर दो ।" मैंने वैसाही किया । गोप ने घर जाकर कोष्ठागार को देखा । वह बहुत चमत्कृत हुआ । कुछ रत्न लेकर वह सिद्धपुरुष के पास आया । रत्नों को उपहृत कर उसने अपना आभार व्यक्त किया ।

रत्न देखते ही सिद्धपुरुष भी चकित हुआ । उसने उनकी प्राप्ति के बारे मे पूछा, तो गोप ने कहा—"आपके द्वारा बताये गये मंत्र-जाप से ही मुझे इनकी उपलब्धि हुई है ।" सिद्धपुरुष ने सोचा, क्रोध में कहा गया वाक्य इसके विश्वास से फलित हो गया है ।

मैं जब गोप के कोष्ठागार को रत्नों से भरने के लिए गया था, मूर्ति की अर्चा करना भूल गया था । इसी बीच मेरे स्वामी धरणेन्द्र मंदिर में आ गये । अपूजित मूर्ति को देखकर वे बहुत क्रुद्ध हुए और

उन्होंने मुझे शाप दिया—"इस वन में तुम दोनों शुक-युगल होकर रहो।"

देव से पक्षी हो जाने पर कितना दुःख हो सकता है, कल्पना की जा सकती है। किन्तु, मेरे समक्ष कोई चारा नहीं था। मैंने धरणेन्द्र का बहुत अनुनय किया, तो उन्होंने कहा—"राजगृह के कठ सेठ की परिचर्या से शाप-मुक्त हो सकेगा।" धरणेन्द्र अपने स्थान पर, गये। मैं वहीं किसी वृक्ष की शाखा पर बैठा था। उसी समय यह निर्धन ब्राह्मण उसी वृक्ष के नीचे आकर अपने भाग्य को कोसने लगा। इसके रुदन को मैं सुन न सका। मैंने उससे तब कहा—"तू हम दोनों को कठ सेठ के पास छोड़ आ। वह तुझे पांच सौ मुद्राएं दे देगा।"

शुक ने अपनी घटनाओं का उपसंहार करते हुए कहा—"यह मेरी संक्षिप्त कहानी है। किन्तु, एक बात की सावधानी रखनी है कि मेरी यह घटना अन्य किसी को न कही जाये। यदि कही जायेगी, तो तेरे लिए संकट उपस्थित हो जायेंगे।"

कठ सेठ ने शुक के कथन को स्वीकार किया और शुक-युगल के पिंजरे को अपने पास रख लिया। इसी बीच सेठ की दुकान पर एक तापस भिक्षा के लिए

आया। ज्यों ही वह दुकान के आगे खड़ा हुआ था, कठ की दुकान के छपरे से एक तृण तापस के मस्तक पर गिरा। तापस उसे देखकर अपने पर क्रुद्ध हुआ। जनता को सम्बोधित कर वह कहने लगा, महाव्रतों का पालन करते हुए आज तक मैंने किसी का तृण-मात्र भी अदत्त नहीं लिया। आज यह तृण मेरे सिर पर गिरा है। इस दोष का प्रायश्चित्त केवल यही है कि मैं अपने सिर को काट डालूं।

तापस ने केवल कहा ही नहीं, तलवार को खींच कर आत्मघात करने को वह प्रस्तुत हो गया। जन-समूह ने बीच में पड़कर तापस को आत्म-हनन से उपरत किया। कठ ने यह सारा दृश्य देखा। उसके मानस पर यह प्रभाव पड़ा, यह तापस तो बहुत धार्मिक है। यदि इसे अपने घर पर रहने के लिए तैयार कर लूं, तो भद्रा का एकाकीपन दूर हो जायेगा। कठ ने तापस के समक्ष प्रस्ताव रखा। तापस ने तत्काल उसका प्रतिवाद करते हुए कहा—"मेरे जैसे तापसों के लिए गृहस्थ के घर पर रहना उपयुक्त नहीं है।" कठ तापस की निस्पृहता से और भी प्रभावित हुआ। उसने सोचा, ऐसा निस्पृही तापस तो चिराग लेकर खोजने पर भी नहीं मिल पायेगा। उसने आग्रह को बढ़ाया, तो तापस

ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

कठ ने घर आकर भद्रा से कहा—"तापस दरवाजे पर रहेगा। भोजन -पानी से इसे सत्कृत करना। मुर्गा और शुक-युगल तेरे पास रहेंगे। यत्न से इनकी रक्षा करना और इनके साथ मनोरंजन करना।"

कठ ने विदेश के लिए प्रस्थान कर दिया। भद्रा घर पर अकेली थी और दरवाजे पर अकेला तापस। भद्रा अपने पातिव्रत्य से डिग गई। उसने धीरे-धीरे तापस को भी अपने कुचक्र में फंसाने का उपक्रम आरम्भ किया। तापस भी विचलित हो गया। दोनों का पापाचार चलने लगा। धन भी खुले हाथों खर्च होने लगा। एक दिन शुक-युगल ने तापस को घर में प्रविष्ट होते तथा अनुचित हरकत करते हुए देखा। मैंना ने उसे आड़े हाथों लिया। शुक ने उसे रोकते हुए कहा—"यह हमारे बोलने का अवसर नहीं है। अभी मौन ही श्रेयस्कर है।"

मैंना का पौरुष फड़कने लगा। उसने शुक से कहा—"स्वामिन्! यह क्या कह रहे हो। सेठ ने घर की रक्षा का भार अपने पर छोड़ रखा है। क्या हम उसकी इस प्रकार उपेक्षा कर दें? यह दुष्ट तापस प्रतिदिन सेठानी के साथ विलास करता है और धन

है। केवल इसमें से थोड़ा-सा अंश सागरचन्द्र को दिया था।"

तापस का क्रोध उलाचे भरने लगा। खून बरसाते हुए बोला—"यदि तेरा मेरे साथ अनुराग है, तो सागरचन्द्र का पेट चीर कर चूड के टुकड़े मुझे दे। जब तक वे मुझे नही मिलेगे, मेरा कोप शान्त नही होगा।"

भद्रा ने कहा—"यह निन्दनीय कार्य मेरे से कैसे हो सकेगा? क्या पुत्र-हत्या का पाप अपने सिर पर लू? छी! छी!"

तापस उछलने लगा। वह बोला, मै नही जानता, क्या करना है और क्या नहीं करना है। मुझे तो इसी समय वह चूड दे, वरना मै तो जाता हूँ।

पुत्र के लिए माँ की ममता से आगे कुछ भी नही होता; पर माँ का दिल पत्थर हो सकता है, ऐसे कोई बिरले ही उदाहरण मिल सकते हैं। भद्रा की कामवासना तीव्र थी। उसने तापस के उस प्रस्ताव को भी स्वीकार कर लिया।

सागरचन्द्र का भाग्य था। गोमती धाय माता उस समय वही आ पहुँची। उसने गुप्त रह कर उस वार्तालाप को सुन [illegible] उसने सोचा, भद्रा क्या कुछ नही कर डालेगी

।। वह बोला, "मैं नहीं जानता, क्या करना है और क्या
इसी समय वह चूड़ दे, वरना मैं तो जाता हूं।"

उड़ाता है। मेरे से तो यह देखा नहीं जाता, इसका प्रतिकार करना होगा।"

भद्रा ने दोनों का वार्तालाप सुना। तेवर चढ़ाकर वह मैना को मारने के लिए झपटी। ज्यों ही उसने पिंजरा खोला, मैना आँख बचाकर आकाश में उड़ गई। शुक मौन ही बैठा रहा।

भूदेव नामक एक नैमित्तिक एक दिन भद्रा के घर पर आया। प्रसंगवश तापस ने उससे मुर्गे के गुणों के बारे में पूछा। भूदेव ने कहा—"जो इसके चूड को खायेगा, वह निश्चित ही सात दिन में राजा होगा।"

राज्य-प्राप्ति की बात से तापस के मुंह में पानी भर आया। उसने भूदेव को विसर्जित कर भद्रा से आग्रह किया—"मुर्गे का चूड़ा-युक्त मांस मुझे खिलाओ।"

भद्रा ने असमर्थता प्रकट करते हुए कहा—"यह मुर्गा सेठ को बहुत प्रिय है। इसको मारकर मैं तुम्हें कैसे खिला सकती हूँ? सेठ जब मेरे से इस बारे में पूछेंगे, मैं क्या उत्तर दूंगी।"

तापस ने भद्रा को चुनौती दी, यदि तुझे मेरे से कोई प्रयोजन हो, तो इसको मारकर मुझे खिला;

अन्यथा मैं तो यहाँ से जाऊँगा। एक क्षण भी तेरे पास नहीं रहूँगा।

भद्रा गहरे असमंजस में पड़ गई। वह तापस के प्रेम को छोड़ नहीं सकती थी। बहुत समय तक सोचती रही। अन्ततः उसने तापस का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और मुर्गे को मारकर चूड़-युक्त मांस तैयार कर लिया। तापस स्नान करने के लिए तालाब पर गया हुआ था। उसी समय विद्यालय से सागरचन्द्र घर आ गया। वह भूखा था; अतः उसने भद्रा से भोजन मांगा। भद्रा ने भी यह कहते हुए कि और कुछ तो अभी है नहीं, यह मांस ही खा ले; मुर्गे का मांस उसके हाथ में दे दिया। उसमें वह चूड़ भी आ गया। सागरचन्द्र उसे खाकर शीघ्र ही विद्यालय चला गया।

तापस स्नान, अर्चा, ध्यान, स्मरण आदि दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर घर आ गया। प्रसन्नचित्त भोजन करने के लिए बैठा। भद्रा ने मुर्गे का मांस उसे परोसा। तापस ने सबसे पहले उसमें चूड़ को खोजा। वह उसे नहीं मिला। क्रुद्ध होकर भद्रा के प्रति बोला—"इसका चूड़ कहाँ है?"

भद्रा ने विनम्रता से कहा—"जो कुछ था, यही

है। केवल इसमें से थोड़ा-सा अंश सागरचन्द्र को दिया था।"

तापस का क्रोध उलांचें भरने लगा। खून बरसाते हुए बोला—"यदि तेरा मेरे साथ अनुराग है, तो सागरचन्द्र का पेट चीर कर चूड के टुकड़े मुझे दे। जब तक वे मुझे नही मिलेगे, मेरा कोप शान्त नहीं होगा।"

भद्रा ने कहा—"यह निन्दनीय कार्य मेरे से कैसे हो सकेगा? क्या पुत्र-हत्या का पाप अपने सिर पर लू? छी! छी!"

तापस उछलने लगा। वह बोला, मै नही जानता, क्या करना है और क्या नही करना है। मुझे तो इसी समय वह चूड दे, वरना मैं तो जाता हूँ।

पुत्र के लिए माँ की ममता से आगे कुछ भी नही होता; पर माँ का दिल पत्थर हो सकता है, ऐसे कोई विरले ही उदाहरण मिल सकते है। भद्रा की कामवासना तीव्र थी। उसने तापस के उस प्रस्ताव को भी स्वीकार कर लिया।

सागरचन्द्र का भाग्य था। गोमती धाय माता उस समय वही आ पहुँची। उसने गुप्त रह कर उस वार्तालाप को सुन लिया। उसने सोचा, भद्रा क्या कुछ नही कर डालेगी। प्रायः राजा, महिलाएँ और

तापस उछलने लगा। वह बोला, "मैं नहीं जानता, क्या करना है और क्या नहीं करना है। मुझे तो इसी समय वह चूड़े, वरना मैं तो जाता हूं।"

लताएँ पास में रहने वाले को ही घेरती है। यह पुत्र-हत्या करती हुई भी संकोच नही करेगी। किसी प्रकार सागरचन्द्र की रक्षा करनी चाहिए। वह तत्काल विद्यालय में पहुंची। सागरचन्द्र को वगल में दबाकर चलती वनी। सागरचन्द्र भी उसके प्रयोजन को समझ नही पाया। छः दिन और रात तक अनवरत वे दोनों चलते रहे। छठे दिन चम्पा नगरी के उद्यान में पहुँचे। इसी बीच चम्पा के राजा की मृत्यु हो गई। वह निःसन्तान था। सचिवों ने मिलकर पाँच दिव्य सज्जित किए। उनके पीछे हजारों की जनता चलने लगी। पाँचों दिव्य-उद्यान में सागरचन्द्र के पास आये। हाथी ने जल-पूर्ण कलश से सागरचन्द्र पर अभिषेक किया। अश्व ने हेषारव किया। सचिवों ने उसी समय सागरचन्द्र को चम्पा का राजा घोषित कर दिया। उसका वहाँ धात्रीवाहन नाम रखा गया।

भद्रा ने तापस के साथ भोग-विलास में सारा धन गंवा दिया। दासियों का परिवार भी धीरे-धीरे कम होता गया। भव्य अट्टालिका भी देख-रेख के अभाव मे खण्डहर जैसी हो गई। कुछ वर्षो बाद सेठ कठ घर आया। इधर-उधर देखा, उसे सागरचन्द्र दास-दासी कोई दिखलाई नही दिए। भद्रा को उसने पूछा। वह

कुछ भी उत्तर न दे सकी। कठ ने शुक से पूछा। शुक ने कहा—"मुझे पिंजरे से मुक्त करो। उसके बाद ही सारी घटना बतलाऊँगा।" कठ ने वैसा ही किया। शुक गृहांगन के वृक्ष पर बैठ गया। उसने कठ सेठ को सारी कहानी सुनाई। दु:खित कठ का मन संसार से उद्विग्न हो गया। आचार्य गुणसुन्दर के पास जाकर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। शुक के शाप का समय पूरा हो गया था; अतः वह भी मूल रूप में होकर धरणेन्द्र की सभा में चला गया।

मुनिवर कठ ने समिति-गुप्तियों की आराधना में सजग रहते हुए शास्त्रों के अध्ययन तथा तपस्या में अपना सारा समय खपा दिया। निर्मल संयम की प्रतिपालना करते हुए उन्हें अनेक लब्धियां भी प्राप्त हुई। किन्तु, वे निरभिमान तथा निश्छल रहते हुए अनेक ग्राम-नगरों में विचरण कर रहे थे।

भद्रा और तापस का पापाचार जन-जन के मुंह पर हो गया। लोकापवाद के कारण वे राजगृह में न रह सके। जनता से निर्भर्त्सित होते हुए इधर-उधर भटकते रहे और ठोकरें खाते रहे। संयोगवश वे चम्पा में पहुंच गए। किसी मुहल्ले के एक छोर पर झोंपड़ी बांध कर वे वहाँ रहने लगे। भद्रा घर-घर जाती और

पनिहारिन, मिसरानी आदि का कार्य कर आजीविका करने लगी। तापस ने किसी धनिक के यहाँ खेती-बाड़ी का काम आरम्भ कर दिया।

मुनिवर कठ भी विचरण करते हुए एक बार चम्पा पधारे। भिक्षा के लिए उन्हे घूमते हुए भद्रा ने देख लिया। वह उन्हें पहचान गई। उसने सोचा, यदि यह मेरा चरित्र जनता के समक्ष प्रकट कर देगा, तो यहाँ भी रहना दूभर हो जाएगा। उसने एक षड्-यंत्र रचा। आहार के बीच मे उसने अंगूठी छुपा दी और मुनिवर को आहार वहरा दिया। ज्यों ही मुनि-वर उसकी झोंपड़ी से बाहर गये, उसने चिल्लाना आरम्भ किया—"मुनि-वेष में यह चोर मेरी स्वर्ण-मुद्रिका लिए जा रहा है। मुझे बचाओ, बचाओ।"

भद्रा के चिल्लाने पर सैकडों आदमी वहां एकत्र हो गये। नगर-रक्षक भी वहां आ गया। मुनिवर कठ के उपकरणों की जब तलाशी ली गई, तो आहार में स्वर्ण-मुद्रिका निकली। मुनिवर कठ को गिरफ्तार कर चौराहे पर ले आया गया। राजमहल भी पास ही में था। गवाक्ष मे गोमती धाय खड़ी थी। उसने मुनिवर को पहचान लिया। रोती हुई वह राजा धात्रीवाहन के पास पहुची। मुनिवर के गिरफ्तार करने की सारी

घटना एक ही सांस में वह सुना गई। राजा को भी अपार वेदना हुई। वह नंगे पैर ही वहां से दौड़ा। मुनिवर के पास पहुंचकर उन्हें अपने हाथों से बन्धन-मुक्त किया। गोमती ने सारा पूर्व वृत्तान्त मुनिवर के सामने ही राजा को सुनाया। राजा ने क्रुद्ध होकर भद्रा और तापस को अपने देश से निकाल दिया।

पितृ-मुनिवर के शुभागमन से राजा हर्षित हुआ। उसने विशेष प्रार्थना करके वह चतुर्मास वहीं करवाया। राजा प्रतिदिन व्याख्यान सुनता। धर्म का उस पर विशेष प्रभाव पड़ा। उसने सम्यक्त्व के साथ श्रावक के वारह व्रतों को भी धारण किया। अपने देश में अमारिपटह की उद्घोषणा करवाई। अनेक दान-शालाओं की स्थापना की। साधर्मिक वात्सल्य के भी अनेक आयोजन किए। मुनिवर कठ के चतुर्मास-प्रवास में विशेष धर्म-जागरणा तथा शासन प्रभावना हुई।

धर्म की अभिवृद्धि से सहस्रों व्यक्ति प्रफुल्लित होते हैं, तो कुछ मिथ्यात्वी द्वेषी भी हो जाते हैं। मुनि-वर कठ के प्रवास से कुछ व्यक्ति जलने लगे। उन्होंने मुनिवर को बदनाम करने के अभिप्राय से एक षड्यंत्र रचा। एक गर्भवती चण्डालिनी को पांच सौ मुद्राओं का प्रलोभन देकर मुनिवर पर कलंक लगाने के लिए

तैयार किया । उसने उसे स्वीकार कर लिया ।

चतुर्मास की समाप्ति पर मुनिवर कठ नगर से विहार कर उद्यान मे पधारे । मुनिवर वहां धर्म-देशना दे रहे थे । राजा तथा सहस्रों नागरिक देशना सुन रहे थे । उसी समय वह चंडालिनी भी वहा आई । हजारों की परिषद् के बीच मुनिवर कठ को सम्बोधित करती हुई वह बोली—"मुने ! तुम कहां जा रहे हो ? मेरी क्या व्यवस्था की है ? तुम्हारे इस गर्भ की प्रति-पालना करने में मुझे कितना कष्ट हो रहा है ? मैं आसन्न प्रसवा हूं । मेरे पास कुछ भी सामग्री नही है । मुझे निराधार छोडकर जाना तुम्हे उपयुक्त नही है ।"

राजा तथा नागरिक चंडालिनी की बात सुनते ही चौके । वे एक-दूसरे के मुंह की ओर देखने लगे । मुनिवर कठ ने सोचा, द्वेषियो ने गहरा जाल बिछाया है । वे जैन शासन की उन्नति को देख नही पाये है । उन्होंने चंडालिनी से शान्त स्वर में कहा—"तुझे इस प्रकार असंबद्ध तथा असत्य बात नही करनी चाहिए । मिथ्या प्रलाप से आत्मा बोझिल होती है और उससे भारी अनर्थ होते हैं । एक साधु पुरुष के प्रति तुझे ऐसा कूट कलंक नही देना चाहिए ।"

मुनिवर ने बार-बार उसे समझाया, किन्तु, चंडा-

लिनी पर उसका कोई असर नहीं हुआ। वह मौन हो खड़ी रही। जनता में आशंका बढ़ी। मुनिवर कठ कुछ रुष्ट हुए। उन्होंने आंखें लाल कर कहा—"यदि यह गर्भ मेरा है, तो अभी योनि मार्ग से तेरा प्रसव हो। यदि यह गर्भ मेरा नहीं है, तो तेरा पेट फट कर प्रसव हो।" मुनि का रोष उभर रहा था; अतः उनके मुख से अशोभनीय व अकल्पनीय शब्द भी निकल पड़े। मुनिवर कठ लब्धिधर व वचन-सिद्ध थे। उनके कहते ही चंडालिनी का पेट फटा और गर्भ गिर पड़ा। चंडालिनी भी मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। उपस्थित जनता बहुत विस्मित हुई। उसे यह अच्छी तरह ज्ञात हो गया, मुनिवर निर्दोष हैं और किसी व्यक्ति ने यह जाल रचा है। दो घड़ी के बाद चंडालिनी सचेत हुई। राजा ने उसको डांटते हुए कहा—"जो भी घटना है, सत्य-सत्य बतला। सत्य कहे जाने पर तुझे अभय दिया जायेगा; अन्यथा तेरे प्राणों पर आ बनेगी।"

चंडालिनी कांपने लगी। उसने अपने बचाव के लिए सारी घटना को खोल डाला और कहा—"अमुक-अमुक व्यक्तियों ने ऐसा करने के लिए मुझे पांच सौ मुद्राएं दी थीं।"

द्वेषी व्यक्ति भी वहीं बैठे थे। वे वहां मजा लेने के लिए आये हुए थे; पर, उनके ही गले में फांसी लग गई। वे मुनिवर के चरणों में गिरे और अपने अपराध के लिए पुनः-पुनः क्षमा मांगने लगे। राजा धात्रीवाहन का रोष भी उभरा। उसने उन सभी व्यक्तियों के वध का तत्काल आदेश दे दिया।

मुनिवर निष्कलंक प्रमाणित हो चुके थे। उनका रोष शान्त हुआ। वे आत्म-भाव में स्थित हुए। उन्होंने राजा को वध के आदेश को प्रत्यावर्तित करने की प्रेरणा दी। राजा ने उसे शिरोधार्य किया और उन व्यक्तियों को अपने देश से निकाल दिया।

जिन-शासन की विशेष प्रभावना कर मुनिवर कठ ने वहां से अन्यत्र विहार किया। भूमण्डल पर विहरण करते हुए वे वैभार गिरि पर आये। मासिक संलेखना करके आयुष्य पूर्ण किया और वे देवलोक में गए। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर साधना करेंगे और निर्वाण प्राप्त करेंगे।

मुनिवर मुनिपति ने कहा—"श्रेष्ठिन् ! तेरे आग्रह को देखते हुए, ऐसा लगता है, मुझे भी इस समय कठ की तरह तेरे को शिक्षा देनी होगी। मैं नहीं चाहता, मैं अपने आत्म-भाव से दूर हटूं, पर, तेरा दुराग्रह मुझे

उस ओर सोचने के लिए विवश कर रहा है । मैं अपनी साधना में सजग हूँ । मैंने कभी भी अपनी साधना को अतिचारों से दूषित नहीं किया है । इतना बड़ा कलंक मैं कैसे सह सकता हूं । जो प्रयोग कठ मुनिवर ने किया था, वैसा ही प्रयोग करने के लिए तू मुझे बाधित न कर ।"

कुंचिक सेठ का पुत्र मुनिवर की स्पष्ट गर्जना से भीत हुआ । उसने अपने पिता से कहा—"आप त्यागी मुनिवर को व्यर्थ ही क्यों संतापित कर रहे हैं ? ये निर्लोभी निर्ग्रन्थ हैं । इन्होंने अपनी राज्य-सम्पदा को भी तृणवत् समझ कर छोड़ दिया, तो क्या ये आपका धन लेंगे ?"

श्रेष्ठिपुत्र ने अपने कथन को दूसरा मोड़ देते हुए कहा—"महाव्रतों एवं तपस्या की आराधना से इनको अनेक लब्धियां प्राप्त हैं । यदि ये क्रुद्ध हो गये तो नमुचि की तरह हमें भी असमय ही मृत्यु का ग्रास बनना होगा ।"

कुंचिक सेठ ने बीच ही में पूछा—"पुत्र ! नमुचि कौन था ? उसे असमय ही यमराज की ओर क्यों बढ़ना पड़ा ?"

श्रेष्ठिपुत्र ने कहा—"श्री मुनिसुव्रत स्वामी के

समय उज्जयिनी में धर्मसेन राजा का राज्य था। वह न्यायी, सरल तथा दृढ़ धर्मी था। नमुचि उसका बुद्धिमान् सचिव था। वह कुटिल, मिथ्यात्वी तथा जैन धर्म का निन्दक था। एक बार आचार्य सुव्रत बहुत सारे शिष्यों के परिवार से वहाँ पधारे। राजा आदि अनेक नागरिक वन्दना करने के लिए आये। धर्म-देशना सुनकर अनेक व्यक्ति प्रतिबोध को प्राप्त हुए। नमुचि ने वहा असामयिक नास्तिकवाद की प्ररूपणा की। एक क्षुल्लक मुनि ने उसे टोका। दोनों का वाद-विवाद ठन गया। नमुचि की तर्क लचीली थी; अतः वह क्षुल्लक मुनि के समक्ष पराजित हो गया। जनता में उसका उपहास हुआ।

हार और उपहास बहुधा व्यक्ति को प्रतिशोध के लिए प्रेरित कर देते है। कुछ दिन बीतने पर एक रात्रि में वह क्षुल्लक मुनि के वध के लिए खड्ग हाथ में लेकर अकेला ही उद्यान की ओर चला। उद्यान के द्वार पर ही शासन देवी ने उसे स्तम्भित कर दिया। वह वहाँ से हिल-डुल न सका। प्रभात हो गया। प्रातः वहा सैकड़ों व्यक्ति एकत्रित हो गये। सभी ने यह निःसन्देह स्वीकार किया, यह मुनि के वध के लिए ही आया था। जनता ने उसकी खुल्ली निर्भर्त्सना की।

नमुचि को काटो तो खून नहीं। वह स्तब्ध-सा खड़ा अपनी मुक्ति का चिन्तन करने लगा। उसे लगा, क्षुल्लक मुनि और शासन-देवी से क्षमा-याचना किए बिना छुटकारा नहीं हो सकता। उसने विनम्रता से जन-समूह के बीच दोनों से क्षमा-याचना की और भविष्य में ऐसा अपराध न करने का दृढ़ संकल्प किया। नागरिकों की प्रार्थना पर शासन-देवी ने उसे वहां से मुक्त किया। लोकापवाद इतना हुआ कि उसे वहां से सदा के लिए अवकाश ले लेना पड़ा। क्रमशः घूमता हुआ वह हस्तिनागपुर पहुँचा।

राजा पद्मोत्तर हस्तिनागपुर का अधिशासी था। उसके दो रानियां थीं। एक का नाम था, ज्वालादेवी और दूसरी का नाम था लक्ष्मी। ज्वालादेवी की जैन धर्म में दृढ़ निष्ठा थी। उसकी सम्यक्त्व निर्मल थी और देव, गुरु व धर्म में भक्ति-परायण थी। लक्ष्मी ब्रह्म-भक्ति में लीन रहती थी। वह राजा पद्मोत्तर की कृपा-पात्र थी।

शुभ स्वप्न से सूचित ज्वालादेवी के पहला पुत्र विष्णुकुमार हुआ। कुछ ही वर्ष बाद चवदह महास्वप्नों से सूचित दूसरा पुत्र हुआ, जिसका नाम महापद्म रखा गया। क्रमशः दोनों पुत्र यौवन में प्रविष्ट हुए। सब

कलाओं में दक्ष थे, अतः राजा पद्मोत्तर ने अपना उत्तराधिकार सौंपने का निश्चय किया। उसने विष्णुकुमार को इस उद्देश्य से आमंत्रित किया। विष्णुकुमार आरम्भ से ही निःस्पृह वृत्ति का था। उसने पिता से स्पष्ट शब्दों मे कहा—"मैं तो दीक्षा लेना चाहता हूं। राज्य का मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं है। आप मेरे अनुज को यह दायित्व सौंपे।"

राजा पद्मोत्तर ने महापद्म को युवराज घोषित किया। नमुचि घूमता हुआ इसी बीच वहां आ पहुंचा था। अपने वाक्-चातुर्य से नमुचि ने महापद्म के हृदय में अपने प्रति स्थान बना लिया और वह वहां उसके सचिव के रूप में आनन्द से रहने लगा।

सामन्तसिंह नामक दुर्दान्त पल्लीपति था। युवराज महापद्म के साथ उसकी शत्रुता थी; अतः वह उसके गावों को उजाड़ता तथा धन-माल लूटता। राजा पद्मोत्तर ने सामन्तसिंह को जीवित या मृत पकड़ मंगवाने के लिए अनेक प्रयत्न व घोषणाएं की; किन्तु, कोई सफलता नहीं मिली। एक बार सामन्तसिंह ने एक गांव को भयंकर रूप से उजाड़ा तथा व्यापारियों को नृशंसता पूर्वक लूटा। आरक्षकों को मार कर वहां आतंक फैला दिया। युवराज महापद्म

बहुत कुपित हुआ। सुभटों को सम्बोधित करके उसने कहा—"क्या कोई ऐसा वीर योद्धा है, जो सामन्तसिंह को यमराज का अतिथि बना सके या जीवित ही मेरे समक्ष उपस्थित कर सके। उसे यथेच्छित पुरस्कार दिया जायेगा।"

कुछ क्षण तक सभा में सन्नाटा छाया रहा। नमुचि ने अपने लिए इसे उपयुक्त अवसर माना। वह तत्काल खड़ा हुआ। उसने निवेदन किया—"यदि आपका अनुग्रह हो, तो मैं इस काम को करना चाहता हूं।" महापद्म को नमुचि के सामयिक उत्तर से बहुत सन्तोष हुआ। नमुचि ने सौ शस्त्रधारी सुभटों के साथ वहां से गुप्त रूप में प्रयाण किया। सन्ध्या के धुंधलके में वह पल्ली के समीप पहुंचा। उनके आगमन की वहां कोई आहट भी नहीं हुई। सामन्तसिंह रात्रि में गहरी नींद में सो रहा था। नमुचि ने मौका पाकर तलवार के एक प्रहार में ही उसे मार डाला और उसका सिर लेकर महापद्म के समक्ष उपस्थित हुआ। सामन्तसिंह के सिर को देखते ही महापद्म की बाछें खिल उठीं। उसने नमुचि को अपनी छाती से भीड़ लिया और यथेच्छित वर मांगने के लिए कहा। नमुचि बहुत चतुर था। उसने कहा—"अभी तो मैं कुछ भी नहीं

कलाओं में दक्ष थे, अतः राजा पद्मोत्तर ने अपना उत्तराधिकार सौंपने का निश्चय किया। उसने विष्णुकुमार को इस उद्देश्य से आमंत्रित किया। विष्णुकुमार आरम्भ से ही नि.स्पृह वृत्ति का था। उसने पिता से स्पष्ट शब्दों में कहा—"मैं तो दीक्षा लेना चाहता हूं। राज्य का मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं है। आप मेरे अनुज को यह दायित्व सौंपे।"

राजा पद्मोत्तर ने महापद्म को युवराज घोषित किया। नमुचि घूमता हुआ इसी बीच वहा आ पहुंचा था। अपने वाक्-चातुर्य से नमुचि ने महापद्म के हृदय मे अपने प्रति स्थान बना लिया और वह वहां उसके सचिव के रूप में आनन्द से रहने लगा।

सामन्तसिंह नामक दुर्दान्त पल्लीपति था। युवराज महापद्म के साथ उसकी शत्रुता थी; अतः वह उसके गांवों को उजाड़ता तथा धन-माल लूटता। राजा पद्मोत्तर ने सामन्तसिंह को जीवित या मृत पकड़ मगवाने के लिए अनेक प्रयत्न व घोषणाएं की; किन्तु, कोई सफलता नहीं मिली। एक बार सामन्तसिंह ने एक गांव को भयंकर रूप से उजाड़ा तथा व्यापारियों को नृशंसता पूर्वक लूटा। आरक्षकों को मार कर वहां आतंक फैला दिया। युवराज महापद्म

मांगूंगा। भविष्य के लिए इसे सुरक्षित रहने दें। महापद्म ने इसे स्वीकार कर लिया।

एक बार महापद्म की माता ज्वालादेवी ने रथ-यात्रा का आयोजन किया। भगवान् जिनेश्वर की उसमें प्रतिमा स्थापित की गई। इसी समकक्षता में रानी लक्ष्मी ने भी ब्रह्म रथ-यात्रा का आयोजन किया। दोनों ही रथ उद्यान में घूम कर जब नगर-द्वार के समक्ष आये, तो प्रश्न उपस्थित हो गया, पहले कौन-सा रथ प्रविष्ट हो। दोनों ही ओर से अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर प्राथमिकता के लिए आग्रह किया जाने लगा। राजा पद्मोत्तर के पास परिस्थिति पहुंची। विवाद को टालने के अभिप्राय से राजा ने निर्णय दे दिया, कोई भी रथ शहर में न आये। उनके लिए उद्यान में ही व्यवस्था कर दी जाये।

दोनों ही रथ उद्यान में पहुंच गये। महापद्म ने इसे अपनी मां का अपमान माना। उसका मन बहुत खिन्न हो गया। उसने उसके विरोध मे नमुचि के साथ राज-त्याग कर दिया और देशान्तर चला गया। चक्रवर्तित्व का समय निकट था। विदेश-गमन उसमें हेतुभूत हुआ। अपने पुरुषार्थ और सूझबूझ से महा-

एक दिन वह चक्रवर्ती के पास आया और करबद्ध होकर बोला—"मैं यज्ञ करना चाहता हूं। इस अवसर पर मैं आपके द्वारा दिये गए वर की स्मृति कराना चाहता हूं। सम्भवतः आपको याद ही होगा।"

चक्रवर्ती महापद्म ने कहा—"मुझे अच्छी तरह याद है। जब चाहो, मांग सकते हो।"

नमुचि ने कहा—"मैं चाहता हूं, आप एक महीने[1] के लिए राज्य-भार मुझे सौंप दें। आप महलों में ही रहें। कोई यदि आपको कुछ कहे, तो भी आप कुछ न सुनें।"

चक्रवर्ती महापद्म ने इसे स्वीकार कर लिया और उसे राज्य प्रदान कर दिया। आडम्बर से यज्ञ आरम्भ हुआ। उसे देखने के लिए हजारों नागरिक यज्ञ-मंडप में आये। विभिन्न धर्माचार्य भी वहां आये और उन्होंने नमुचि को उस कार्य के लिए बधाइयां दीं। आचार्य सुव्रत उसके यज्ञ-मंडप में नहीं गये। नमुचि ने इसे अपना अपमान समझा। क्रोध में उबलता हुआ वह आचार्य सुव्रत के उपाश्रय में आया और बोला—"तुम में से कोई भी साधु मेरी राज्य-सीमा में

१ कुछ प्रतियों में सात दिन का उल्लेख मिलता है, देखें; श्री शुभशील गणि रचित, विष्णुकुमार मुनि [illegible]म्।

चक्रवर्ती महापद्म ने कहा— "मुझे अच्छी तरह याद है, जब चाहो, मांग सकते हो।"

नमुचि ने कहा— "मैं चाहता हूं आप एक महीने के लिए राज्य-भार मुझे सौंप दें। आप महलों में ही रहें। यदि कोई आपको कुछ कहे तो भी न सुनें।"

एक दिन वह चक्रवर्ती के पास आया और करबद्ध होकर बोला—"मैं यज्ञ करना चाहता हूं। इस अवसर पर मैं आपके द्वारा दिये गए वर की स्मृति कराना चाहता हूं। सम्भवतः आपको याद ही होगा।"

चक्रवर्ती महापद्म ने कहा—"मुझे अच्छी तरह याद है। जब चाहो, माग सकते हो।"

नमुचि ने कहा—"मैं चाहता हूं, आप एक महीने[1] के लिए राज्य-भार मुझे सौंप दें। आप महलों में ही रहें। कोई यदि आपको कुछ कहे, तो भी आप कुछ न सुनें।"

चक्रवर्ती महापद्म ने इसे स्वीकार कर लिया और उसे राज्य प्रदान कर दिया। आडम्बर से यज्ञ आरम्भ हुआ। उसे देखने के लिए हजारों नागरिक यज्ञ-मंडप में आये। विभिन्न धर्माचार्य भी वहां आये और उन्होंने नमुचि को उस कार्य के लिए बधाइयां दीं। आचार्य सुव्रत उसके यज्ञ-मंडप में नहीं गये। नमुचि ने इसे अपना अपमान समझा। क्रोध में उबलता हुआ वह आचार्य सुव्रत के उपाश्रय में आया और बोला—"तुम में से कोई भी साधु मेरी राज्य-सीमा में

---

१ कुछ ग्रन्थों में सात दिन का उल्लेख मिलता है, देखें; श्री शुभशील गणि रचित, विष्णुकुमार मुनि चरित्रम्।

न रहें। यदि कल प्रातः मैं किसी को भी राज्य-सीमा में देखूगा, तो उसे तत्काल मरवा डालूंगा। मैं इसके प्रतिवाद में कुछ भी सुनना नही चाहता।"

आचार्य सुव्रत ने कहा—"अभी चतुर्मास का समय है। अपने कल्प के अनुसार विहार नही कर सकते; अतः आदेश देते हुए हमारी चर्या का संरक्षण भी आपको करना चाहिए।"

नमुचि आसमान से होड़ लगा रहा था। उसने कहा—"मैं कुछ भी नही जानता। मेरे इस आदेश का कठोरता से पालन होगा और इसमें कोई अपवाद नही होगा।"

नमुचि अपनी भड़ांस निकालता हुआ उपाश्रय से राज-सभा में आ गया। आचार्य सुव्रत के समक्ष जटिल पहेली उपस्थित हो गई। सारे संघ को एकत्रित कर उन्होंने कहा—"संघ के समक्ष धर्म-संकट उपस्थित हो गया है। नमुचि की भावना बहुत दूषित है। निर्ग्रन्थ प्रवचन को समाप्त करने की इसने यह चाल चली है। हमें अब क्या करना चाहिए?"

आचार्य सुव्रत संघ के समक्ष जब सारी स्थिति प्रस्तुत कर रहे थे, दुःख और रोष के मिश्रण से एक विचित्र ही स्थिति उत्पन्न हो रही थी। उन्होंने

तुम्हे भी सुखपूर्वक वह साथ ले आएगा।"

गुरुवर के आदेश से आकाश-मार्ग से उस मुनि ने प्रयाण किया। शीघ्र ही वे मुनि विष्णुकुमार के पास पहुंच गए। मुनि विष्णुकुमार को उन्होने सारा व्यतिकर बतलाया और चलने का आग्रह किया। मुनि विष्णुकुमार ने वहां काल-क्षेप नही किया। आगन्तुक साधु को साथ लेकर वैक्रिय लब्धि से वे अति शीघ्र आचार्य सुव्रत के उपपात मे पहुंचे। उन्हे देखते ही सारा संघ खिल उठा। आचार्य से उन्होंने आदेश मांगा। आचार्य ने नमुचि को शिक्षा देने के लिए उन्हें कहा। मुनि विष्णुकुमार राज-सभा में गए। नमुचि के अतिरिक्त सभी ने खडे होकर उन्हे नमस्कार किया तथा उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। मुनिवर का क्षत्रियत्व भी जाग उठा। उन्होने उसे ललकारते हुए कहा—"नमुचि! तुझे ज्ञात होना चाहिए, अभी चतुर्मास है। निर्ग्रन्थ अपने विधानानुसार चतुर्मास में विहरण नही कर सकते। उनके निवास के लिए तुझे व्यवस्था करनी चाहिए। प्रजा के पालन का दायित्व तेरे पर है और विशेषत: साधुओं के संरक्षण का भार भी तेरे पर है। उन्हे किसी प्रकार से तुझे क्षोभित नही करना चाहिए।"

तुम्हें भी सुखपूर्वक वह साथ ले आएगा।"

गुरुवर के आदेश से आकाश-मार्ग से उस मुनि ने प्रयाण किया। शीघ्र ही वे मुनि विष्णुकुमार के पास पहुंच गए। मुनि विष्णुकुमार को उन्होंने सारा व्यतिकर बतलाया और चलने का आग्रह किया। मुनि विष्णुकुमार ने वहां काल-क्षेप नहीं किया। आगन्तुक साधु को साथ लेकर वैक्रिय लब्धि से वे अति शीघ्र आचार्य सुव्रत के उपपात में पहुंचे। उन्हें देखते ही सारा संघ खिल उठा। आचार्य से उन्होंने आदेश मांगा। आचार्य ने नमुचि को शिक्षा देने के लिए उन्हें कहा। मुनि विष्णुकुमार राज-सभा में गए। नमुचि के अतिरिक्त सभी ने खड़े होकर उन्हें नमस्कार किया तथा उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। मुनिवर का क्षत्रियत्व भी जाग उठा। उन्होंने उसे ललकारते हुए कहा—"नमुचि ! तुझे ज्ञात होना चाहिए, अभी चतुर्मास है। निर्ग्रन्थ अपने विधानानुसार चतुर्मास में विहरण नहीं कर सकते। उनके निवास के लिए तुझे व्यवस्था करनी चाहिए। प्रजा के पालन का दायित्व तेरे पर है और विशेषत: साधुओं के संरक्षण का भार भी तेरे पर है। उन्हें किसी प्रकार से तुझे क्षोभित नहीं करना चाहिए।"

उद्दण्ड नमुचि ने कहा—"यद्यपि मैं अपने आदेश को वापस नहीं ले सकता; किन्तु, तेरे कहने पर एक संशोधन करता हूं कि त्रिपदी (तीन पैर रखने जितना स्थान) मैं तुझे देता हूं। इसके आगे यदि और याचना की गई, तो मैं सुनने के लिए तैयार नहीं हूं। जाओ, यहां से चले जाओ। मेरी आँखों के सामने न रहो।"

मुनि विष्णुकुमार ने सोचा, अब इसको शक्ति दिखला कर हतप्रभ करना होगा। उसके बिना इसकी उद्दण्डता समाप्त न होगी। उन्होंने तत्काल अपने लब्धि-बल से एक लाख योजन के शरीर की विकुर्वणा की। उनके विराट स्वरूप को देखकर सभी प्राणी भीत हुए। उन्होंने अपना एक पैर पूर्व समुद्र की मेखला पर तथा दूसरा पैर पश्चिम समुद्र की मेखला पर रखा। उस समय कुल पर्वत कांपने लगे, अचला चलने लगी और समुद्र ने भी उछलते हुए अपनी मर्यादा को त्याग दिया। देवता भी बहुत क्षुभित हुए। उस समय मुनिवर विष्णुकुमार ने नमुचि से कहा— "अधम ! बोल, तीसरा पैर कहां रखूं ?"

नमुचि अस्त-व्यस्त हो गया। उसके प्राण भी कंठों में आ गये। जब वह कुछ भी नहीं उगल सका, तो विष्णुकुमार मुनि ने तीसरा पैर उसके सिर पर

रखा। वह शरीर पाताल में धंस गया। विष्णुकुमार मुनि तब से वामनावतार के रूप में प्रसिद्ध हुए।

सौधर्मेन्द्र मुनिवर के कोप से क्षुभित था। उनके कोप को शान्त करने के अभिप्राय से उसने मेनका आदि अप्सराओं को भेजा। उन्होंने मुनिवर के समक्ष शान्त रस से भावित संगीत प्रधान नाना नाटक किए। कुछ समय बाद उनका रोश शान्त हुआ, तो वे उन्हें नमस्कार कर स्वर्ग में चली गईं। मुनिवर विष्णुकुमार वैक्रिय लब्धि का संहरण कर आचार्य सुव्रत के पास आये और आत्मालोचन किया। चक्रवर्ती महापद्म को जब सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ, आचार्य सुव्रत के उपपात में पहुंचा और उनसे क्षमा-याचना की। सहस्रों मकान गिर पड़े थे; जनता ने उन्हें पुनः सज्जित किया तथा उन पर कली-कूंची की गई। उस उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष ऐसा किया जाने लगा। दीपावली का प्रचलन भी तब से हुआ।

मुनिवर विष्णुकुमार अनेक वर्षों तक भूमण्डल पर विचरे। तप-संयम से साधना को निर्मल करते हुए उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया और सिद्ध बने।

श्रेष्ठिपुत्र ने अपने कथन का उपसंहार करते हुए कहा—"पितृवर ! मुनिवर मुनिपति भी मुनि विष्णु-

वस्त्रपुष्यमित्र की लब्धि थी कि जहां कही भी वे जाते, उनके लिए वस्त्र अप्राप्य नही होता था। विदेह, मथुरा आदि प्रदेशों मे जहां कि वस्त्र की निष्पत्ति अल्प मात्रा मे होती है, वर्षा, शीत आदि ऋतुओं में जब कि वस्त्र की न्यूनता होती है, वस्त्र-पुष्यमित्र के लिए वहां भी सहज उपलब्धि हो जाती थी। यहां तक कि कोई दरिद्रता से घिरी हुई अनाथ वृद्धा बहुत कष्ट से थोड़ा-थोड़ा धागा कात कर सर्दी के निवारण के लिए साडी बनाती है, वस्त्रपुष्यमित्र यदि वहां पहुँच जाये, तो वह वृद्धा अतीव हर्ष से उन्हे वह वस्त्र दे देती है। अन्य धनिकों का तो कहना ही क्या ?

श्रेष्ठिपुत्र ने अपने कथन में बल भरते हुए कहा—"ये मुनि भी इसी प्रकार लब्धि-सम्पन्न हैं। ये कभी भी आपका धन नही ले सकते। आप इन्हें संतप्त न करें।"

कुंचिक सेठ ने कहा—"प्रत्यक्ष को क्या प्रमाण ? इन्होंने मेरा धन चुराया है, इसलिए मैं इन्हे कह रहा हूं। जिस निधान को मेरे अतिरिक्त कोई नही जानता, वह इन्होंने ही निकाला है; क्योंकि वह यहीं छुपाया हुआ था।"

श्रेष्ठिपुत्र ने कहा—"पिताजी ! आप अपनी धारणा को बदलें। जिस निधान के लिए आप संकेत कर रहे हैं वह तो मुनिवर ने नहीं; मैंने लिया है। घर में वह अमुक स्थान पर रखा हुआ है। आप चलें और उसे देखकर आश्वस्त हों।"

श्रेष्ठिपुत्र ने कहा—"पिताजी ! आप अपनी धारणा को बदले। जिस निधान के लिए आप संकेत कर रहे है, वह तो मुनिवर ने नही; मैंने लिया है। घर में वह अमुक स्थान पर रखा हुआ है। आप चलें और उसे देखकर आश्वस्त हों।"

मुनिवर मुनिपति का शान्त भाव रोष में बदल चुका था। उनकी लाल-लाल आँखें इसकी सूचना दे रही थी। उनके शरीर से ऐसा लग रहा था, तेजो-लेश्या के पुद्‌गलों के विस्तरण का समय निकट ही है। कुंचिक सेठ उसे देख भीत हुआ और मुनिवर के चरणों में गिरकर अपने अपराध के लिए पुनः-पुनः क्षमा मांगने लगा।

सरलता पूर्वक अपने दोष को स्वीकार करने पर प्रत्येक व्यक्ति के दिल पर अचूक प्रभाव पड़ता है। कुंचिक सेठ के निवेदन से मुनिवर मुनिपति भी आश्वस्त हुए और उन्होंने सेठ के विनम्र भाव को स्वीकार किया। मुनिवर ने सेठ को इस अवसर पर धर्मोपदेश देते हुए किसी पर भी मिथ्या आरोप न लगाने की प्रेरणा दी। यथार्थता के प्रकट होते ही सेठ का मन भी परिग्रह से उपरत तथा संसार से उदासीन हुआ। उसने मुनिवर के पास भागवती दीक्षा ग्रहण की और निरतिचार

पालन करते हुए अन्त समय में मुनिवर मुनिपति के साथ अनशन किया। दोनों ही प्रथम देवलोक में गये। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में अवतरित होकर मोक्ष जायेंगे।

'अतूंकारी' भट्टा

अवन्ती नगरी में धन श्रेष्ठी रहता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम कमलश्री था। धन श्रेष्ठी के आठ पुत्रों के बाद एक कन्या हुई, जिसका नाम भट्टिका रखा गया। भट्टिका सभी को ही बहुत प्रिय थी; अतः सेठ ने सभी पारिवारिकों को निर्देश दिया, इसको कोई भी 'तूकार' न दे। बड़े और सम्मानित शब्दों से ही इसे पुकारा जाये। तब से भट्टिका का नाम 'अतूं-कारी भट्टा' हो गया। लाड-प्यार में पलकर जब वह आठ वर्ष की हुई, कलाचार्य के समीप में उसका अध्य-यन हुआ। भट्टा शिक्षा में निपुण हुई, तो धर्म के संस्कार भी उसमें जगे। धर्माचार्य के सान्निध्य में उसने सम्यक्त्व के साथ-साथ श्रावक के बारह व्रत भी धारण किए।

कन्या जब यौवन में प्रविष्ट होती है, माता-पिता को उसके विवाह की चिन्ता सताने लगती है। भट्टा के लिए भी धन श्रेष्ठी ने प्रयत्न करना आरम्भ किया।

किन्तु, जब भट्टा को यह ज्ञात हुआ, उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—"मैं उसी पुरुष के साथ विवाह करूंगी, जो पूर्ण रूप से मेरा आज्ञाकारी होगा। यदि कोई ऐसा पुरुष नहीं मिलेगा, तो मैं अविवाहित रहना ही पसन्द करूँगी।" धन श्रेष्ठी के सामने जटिल पहेली उपस्थित हो गई। पत्नी की आज्ञा में चलना किसी को स्वीकार नहीं होता और ऐसा हुए बिना भट्टा तैयार न होती। ज्यों-ज्यों भट्टा यौवन की देहली को पार कर आगे बढ़ रही थी, धन श्रेष्ठी की चिन्ता भी बढ़ रही थी।

भट्टा के सौन्दर्य की चर्चा दूर-दूर तक फैल चुकी थी; अतः बहुत सारे युवक उसके साथ विवाह के लिए उत्सुक होकर धन श्रेष्ठी के पास प्रस्ताव भेजते, पर, भट्टा की शर्त को सुनकर कोई भी साहस नहीं करता। इस प्रकार समय बीतता गया और भट्टा का यौवन भी प्रौढ़ होता गया। संयोग की बात थी, एक दिन सुबुद्धि मंत्री की दृष्टि भट्टा के यौवन पर पड़ी। दृष्टिपात मात्र से ही उसका धैर्य डोल गया। उसका मानस असंतुलित हो गया। भट्टा के साथ विवाह करने के लिए उसने दृढ़ संकल्प कर लिया। धन श्रेष्ठी के पास उसने अपने मनोगत भाव कहलवाये। श्रेष्ठी

को मंत्री के प्रस्ताव से आह्लाद होना स्वाभाविक था, पर वह जानता था, भट्टा की शर्त मंत्री को स्वीकार नहीं होगी और इस प्रकार अन्य प्रस्तावों की तरह यह भी अधूरा ही रह जायेगा। फिर भी आगन्तुक व्यक्ति के हाथ सेठ ने सारी परिस्थिति कहलवाई। सेठ का चिन्तन अयथार्थ निकला। सुबुद्धि मंत्री भट्टा के यौवन पर अतिशय मुग्ध था; अतः उसने उस शर्त को तत्काल स्वीकार कर लिया। धन श्रेष्ठी को अपार प्रसन्नता हुई। उसने बड़े आडम्बर के साथ भट्टा का विवाह सुबुद्धि मंत्री से कर दिया। भट्टा का चिर-कौमार्य समाप्त हो गया।

सुबुद्धि मंत्री के घर पहुंच कर भट्टा ने अपना शासन अच्छी तरह से फैला दिया। कोई भी व्यक्ति उसके आदेश का उल्लंघन नहीं करता था। सभी व्यक्ति गृह-देवता की तरह उसकी पूजा करते थे। सुबुद्धि भी एक दास की तरह भट्टा के समक्ष रहता था। भट्टा ने सुबुद्धि को एक बार आदेश दिया, सन्ध्या से पूर्व ही राजमहलों से घर लौट आना है। रात्रि मे कभी भी घर से बाहर नहीं रहना है। राज्य-संचालन के गुरुतर दायित्व के कारण आपके अनेक छुपे शत्रु भी हो सकते है। रात्रि में आने-जाने से

उनको अनिष्ट करने का अवसर मिल सकता है, इस लिए इस प्रकार के भय से आपको सदा मुक्त ही रहना है। सुबुद्धि ने आदेश शिरोधार्य कर लिया और वह प्रतिदिन सूर्यास्त से पूर्व ही घर लौटने लगा।

मंत्री की दैनिक चर्या में जब परिवर्तन हुआ, तो राजा के मन में उसका कारण जानने की जिज्ञासा हुई। राजा ने सुबुद्धि से इसके बारे में पूछा। उत्तर देने में वह सकुचा रहा था। सही स्थिति राजा के सामने रखना नहीं चाहता था और असत्य बोलने से भी वह झिझक रहा था। इस बीच एक अन्य राज-सभासद् ने कहा—"राजन्! मंत्री महोदय नई पत्नी के विशेष उपासक हो गये हैं। उनकी आज्ञा है, सन्ध्या से पूर्व ही घर पहुँचने की। उनके भय से शीघ्र ही अवकाश ले लेते हैं।"

उपहास करते हुए राजा ने पूछा—"क्यों, यह सच है?"

सुबुद्धि ने यथार्थता को झुठलाने का प्रयत्न नहीं किया। उसने स्वीकारात्मक उत्तर देकर राजा के विनोद को विशेष बढ़ा दिया। ज्यों ही सुबुद्धि जाने लगा, राजा ने उसको रोक लिया, केवल मनोरंजन के लिए। मन-ही-मन सुबुद्धि कुनमुना रहा था और भट्टा

की भंगिमा को याद कर कांप भी रहा था। किन्तु, दो प्रहर रात्रि के बीत जाने तक राजा ने उसको अवकाश नही दिया।

विनोद कई बार बहुत महंगा पड़ता है। आधी रात में सुबुद्धि ज्यों ही घर पहुंचा, भट्टा की त्यौरियां चढ़ी हुई थी। आदेश की अवहेलना का यह पहला अवसर था। सुबुद्धि सिहर रहा था। घर के दरवाजे खूब अच्छी तरह से बन्द थे। सुबुद्धि ने द्वार खटखटाया। भट्टा जग रही थी, पर, उसने काफी समय तक द्वार नही खोला। सुबुद्धि का भय बढ़ना स्वाभाविक था। बहुत समय तक प्रयत्न करने के बाद भट्टा ने दरवाजा खोला। उसका पारा चढ़ा हुआ था। ज्यों ही सुबुद्धि कमरे मे प्रविष्ट हुआ, भट्टा नौ-दो ग्यारह हो गई। वह सुबुद्धि को बिना कुछ कहे ही पीहर की ओर चल पड़ी। सुबुद्धि ने सोचा, देह-चिंता के लिए गई होगी, अभी आ जायेगी। उस समय उसे टोकना सुबुद्धि को भी उचित नही लगा।

क्रोध व्यक्ति को अन्धा बना देता है। वह समय-असमय, कार्य-अकार्य का विवेक नही रहने देता। अंधेरी रात में अकेली भट्टा का घर से प्रस्थान करना, विपदाओं को न्योता देना था। ज्यों ही वह कुछ दूर

चला, चोरों के हाथ पड़ गई। कीमती वस्त्रों व आभूषणों से सज्जित अप्सरा-तुल्य भट्टा को पाकर चोरों का नेता बहुत प्रसन्न हुआ। वह उसे उस दिन का उपहार समझ कर अपनी पल्ली में ले गया।

चोरों से मानवता के व्यवहार की आशा कैसे की जा सकती थी। भट्टा के सारे बहुमूल्य आभूषण व कीमती वस्त्र उतार लिए गये और उसे साधारण वस्त्र पहना दिए गये। चोरों के नायक ने उसके उभरते हुए यौवन पर एक दृष्टि डाली। उसकी कामुकता जग पड़ी। उसे अपनी सहधर्मिणी बनाने के लिए वह उतावला हो उठा। भट्टा के समक्ष उसने अपनी भावना व्यक्त की। भट्टा बन्दिनी थी; पर, उसका पौरुष कभी भी शील-खण्डन को स्वीकार करने को उद्यत नहीं था। उसने चोरों के नायक को ललकारा और अपनी दृढ़ भावना प्रकट की। पल्लीपति उसके साथ बलात्कार करने का साहस न कर सका। उसे अपनी दुश्चेष्टाओं को दबाना पड़ा। भट्टा अपने प्रयत्न में सफल तो हो गई, पर, उसे नाना यातनाओं का सामना करना पड़ा। पल्लीपति बड़ा निर्दय था। उसकी दुर्भावना पूर्ण न हो सकी, इसके लिए उसने भट्टा को प्रतिदिन कोड़ों से पीटना आरम्भ कर

दिया। खाने को भी उसे पूरा भोजन नहीं दिया जाता था। इतना होने पर भी भट्टा ने अपना धैर्य नहीं खोया। उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—"प्राण-त्याग मुझे स्वीकार्य है, पर, सतीत्व पर आँच नहीं आने दूंगी।" पल्लीपति के मन पर इससे गहरा आघात लगा। वह सोच रहा था, हाथ भी जलाये और होले भी नहीं खाये। किन्तु, किसी के मन को विचलित कर अपने अभिप्रायों से भावित कर लेना भी सुगम कार्य नहीं था।

यातना सहते हुए भट्टा के वहां बहुत दिन बीत गए। पल्लीपति की माँ प्रतिदिन इस घटना को देखती। उसे लगा, उसका बेटा बहुत बड़ी गलती कर रहा है। किन्तु, उसे समझा देना भी कोई सुगम काम नहीं था। एक दिन अवसर देखकर उसकी माँ ने कहा—"बेटा ! लगता है, यह सती है। इसको पीड़ित करना खतरे से खाली नहीं है। कुपित होकर कहीं इसने श्राप दे दिया, तो हमारी तो निश्चित ही मृत्यु हो जाएगी। इसमें इतना पौरुष है कि हमारी यातना का इस पर तो कोई असर नहीं होगा और इसकी ओर से यदि तनिक-सा भी प्रयत्न हो गया, तो हम तो विना मौत ही मारे जाएंगे। इसलिए मेरा कहना मानो

उसने चोरों के नायक को ललकारा और अपनी दृढ़ भावना प्रकट की।
पल्लीपति उसके साथ बलात्कार करने का साहस न कर सका।

और विपदाओं के घेराव में न आओ।"

माँ की प्रेरणा का पल्लीपति पर असर हुआ। उसने भट्टा को यातना देना बन्द कर दिया। कुछ दिनों बाद पल्लीपति ने धन लेकर भट्टा को एक व्यापारी के हाथ बेच दिया। भट्टा के सौन्दर्य ने उस व्यापारी को भी कामुक बना दिया। उसने भी भट्टा को सतीत्व से विचलित करने के अनेक प्रयत्न किये, पर, वह भी उसमें सफल नहीं हुआ। व्यापारी बहुत क्रूर था। अपनी असफलता पर उसने भट्टा के साथ अमानुषिक व्यवहार किया। उसने भट्टा के शरीर से काफी मात्रा में रक्त खींचा और एक भांड में डाल दिया। उसने उसका सात दिन तक रक्त निकाला और भांड भर लिए। रक्त में काफी मात्रा में कृमि उत्पन्न हो गए। वे रक्त वर्ण के थे। व्यापारी ने उन कृमियों के रंग से वस्त्र रंगने का व्यापार आरम्भ कर दिया। अत्यधिक रक्त के निकल जाने से भट्टा का शरीर सर्वथा पांडुर श्री-विहीन हो गया।

दुःखी व्यक्ति के दुःख का कभी-न-कभी अवसान होता है। भट्टा के दुःख का घड़ा जब पूरा भर गया, तो एक दिन उसका भाई उसी नगर में व्यापारार्थ आया। उसने उसे देखकर पहचान लिया। भाई ने

उस व्यापारी से भट्टा के बारे में जानकारी प्राप्त की। उससे सारे तथ्य सही रूप में सामने नहीं आए, किन्तु, इतना अवश्य था कि कुछ-कुछ बातों से उसका अनुमान पुष्ट होता था। भाई ने भट्टा से भी बात की, तो सारी वस्तु-स्थिति स्पष्ट हो गई। भाई ने अपना कर्तव्य समझ कर उस व्यापारी के चंगुल से भट्टा को छुड़ा लिया। अच्छे वस्त्र तथा आभूषण पहिना कर वह भट्टा को घर ले आया तथा पिता को सौंप दिया। सुबुद्धि ने जब इस घटना को सुना, तो वह भट्टा को ससम्मान अपने घर ले गया।

समझाने-बुझाने से जिसका गुस्सा शान्त नहीं होता, जीवन में बहुत सारी ठोकरें खाने के बाद उसका गुस्सा सुगमता से शान्त हो जाता है। भट्टा ने अनुभव कर लिया कि गुस्से के कारण उसको कितनी यातनाएं सहनी पड़ीं। उसी दिन से उसने गुस्से का परित्याग कर दिया और क्षमा-मूर्ति होकर शान्त भाव से रहने लगी। पूर्व जीवन में जितना उसे क्रोध आता था, उतनी ही वह शान्त हो गई थी।

हवा फूल की सुवास को दूर-दूर तक फैला देती है और उससे आकृष्ट होकर सैकड़ों भ्रमर उस पर मंडराने लगते हैं। भट्टा की क्षमाशीलता की प्रसिद्धि भी

दूर-दूर तक फैल चुकी थी। एक दिन इन्द्र ने सौधर्म सभा में प्रसंगवश भट्टा की क्षमाशीलता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—"वर्तमान में ऐसी दूसरी क्षमा-मूर्ति मनुष्य-लोक में अलभ्य है। उसे कोई भी व्यक्ति क्षमा से चलित नहीं कर सकता।" सभी देवों ने इन्द्र के कथन का अनुमोदन किया और हर्ष प्रकट किया। एक मिथ्यादृष्टि देव भी वहां उपस्थित था। उसे इन्द्र का कथन यथार्थ नहीं लगा। वह परीक्षा के लिए भट्टा के घर आया। अदृश्य रूप से एक ओर खड़ा हो गया।

मुनिवर मुनिपति विहरण करते हुए उन दिनों वहाँ पधारे हुए थे। उनके शरीर में भयंकर पीड़ा थी। उपचार के लिए लक्षपाक तैल की आवश्यकता थी। दो मुनिवर भट्टा के घर इसी उद्देश्य से आये। भट्टा ने अपनी दासी के हाथ तेल का घड़ा मंगवाया। देव ने इसे उचित अवसर समझा। उसने अपनी अदृश्य शक्ति से तैल-घट को गिरा दिया। बहुमूल्य तेल पानी की तरह वह गया। भट्टा के चेहरे पर शिकन भी नहीं आई। उसने दासी के हाथ दूसरा तैल-घट मंगवाया। देव ने उसे भी फोड़ डाला। भट्टा फिर भी अविचलित थी। उसने दासी से तीसरा

तैल-घट मंगवाया। देव ने उसे भी अपना निशाना बनाया। दो की तरह तीसरे घट का तैल भी भूमि पर बहने लगा। मुनि युगल ने शान्त भाव से कहा—"अब हम जाते हैं। तेरा बहुमूल्य तेल बड़ी मात्रा में नष्ट हो गया है। तुम दासी पर रोष न करना।"

भट्टा ने तत्काल निवेदन किया—"मुनिराज! मैं दासी पर रोष कतई नहीं करूँगी। मैंने क्रोध के दुष्परिणामों का साक्षात् अनुभव किया है; अतः उसको जीता है। मुझे खेद है, तो इसी बात का है कि मुझे पात्र-दान का सौभाग्य नहीं मिल सका। आप कुछ समय ठहरें, मैं स्वयं तैल लाकर आपको बहराऊँगी।"

याचना की। देव ने अपनी शक्ति से पूर्व भग्न तैल-घटों का संधान कर दिया और बहुमूल्य तेल को व्यर्थ जाने से बचा दिया। देव ने भट्टा से कहा—"मैं तेरी क्षमाशीलता से प्रभावित हूं। कोई वरदान मांगो।"

भट्टा ने निस्पृहता के साथ उत्तर दिया—"मुझे तो कोई चाह नही है। मैं तो सब तरह से तृप्त हूं।"

देव स्वर्ण-वृष्टि करके अपने स्थान पर चला गया। शील-सम्पन्न 'अतूंकारी भट्टा' ने क्षमा की आराधना में संलग्न रहकर समाधिपूर्वक शेष जीवन को यापित किया। आयुष्य पूर्ण कर वह देवलोक में गई। वहाँ से च्यवकर वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर निर्वाण प्राप्त करेगी।

●●●